

श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII

No. 2

April-June 2006



Pārśwanātha Vidyāpīᅇha, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी



श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII

No. II

April - June 2006

Editor-in-Chief

Prof. Sagarmal Jain

Editor

Dr. Shriprakash Pandey

Publisher



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

*Recognized by Banaras Hindu University
as an external Research Centre*

श्रमणः पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका
Śramaṇa: A Quarterly Research Journal of Parshwanath Vidyapeeth

Vol. LVII

No. II

April - June 2006

ISSN-0972-1002

Subscription

Annual membership

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 25.00

Life Membership

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth

Published by : Parshwanath Vidyapeeth
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005
Ph. 911-0542-2575521, 2575890
Email : parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com
pvri@sify.com

Type Setting by : Vimal Chandra Mishra
Rathyatra, Varanasi-221005

Printed at : Vardhaman Mudranalaya
Bhelupur, Varanasi-221010

Note : The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

श्रमण

अप्रैल-जून २००६

सम्पादकीय
विषयसूची

हिन्दी खण्ड

- | | | |
|--|-----------------------|-------|
| १. श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व | -जस्टिस एम०एल० जैन | १-१४ |
| २. प्राचीन भारत में आर्थिक विचार:
जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में | -कु० रंजना श्रीवास्तव | १५-१९ |
| ३. जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सांख्य का विकासवाद | -डॉ० सत्यदेव मिश्र | २०-२६ |
| ४. बौद्ध भिक्षु संघ का विकास और नियम | -डॉ० कमलेश दूबे | २७-३४ |
| ५. वैदिक और श्रमण परम्परा में अहिंसा | -डॉ० रीता अग्रवाल | ३५-४५ |
| | -डॉ० अनीता अग्रवाल | |
| ६. भारत की अहिंसक संस्कृति | -डॉ० ललिता शुक्ला | ४६-५१ |

ENGLISH SECTION

- | | | |
|--|--------------------------|---------|
| 7. - The Role of Ahimsā in
Health Care Ethics | -Prof. Cromwell Crawford | 53-70 |
| 8. Medical Ethics in Ancient India | - Swami Brhmeshanand | 71-82 |
| 9. The Jaina Concept of Ahimsā
and the Modern World | - Prof. V. V. Menon | 83-89 |
| 10. Political Aspect of Non-violence | -Dr. B. N. Sinha | 90-115 |
| ११. जैन जगत् | | ११६-१२५ |
| १२. साहित्य सत्कार | | १२६-१३१ |
| १३. सुरसुन्दरीचरित्रं | -श्रीमद्भनेश्वर सूरी | १३५-२१८ |

सम्पादकीय

श्रमण अप्रैल-जून २००६ का अंक सम्माननीय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। श्रमण के पूर्व अंक (जनवरी-मार्च २००६) की तरह प्रस्तुत अंक के हिन्दी खण्ड में जैन साहित्य, दर्शन, आचार, इतिहास एवं संस्कृति पर आधारित कतिपय महत्वपूर्ण आलेख प्रकाशित किये गये हैं। अंग्रेजी खण्ड में जैन अहिंसा पर कतिपय आलेखों का समावेश किया गया है जिनमें विशेषतया मेडिकल एथिक्स में अहिंसा-पालन कितना सम्भव है, इसको रेखांकित करनेवाले तीन महत्वपूर्ण आलेखों एवं राजनीति के क्षेत्र में अहिंसा की प्रासंगिकता का विश्लेषण करने वाले एक आलेख को स्थान दिया गया है। सभी आलेख विषयवस्तु, प्रस्तुति एवं भाषा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हमारा प्रयास यही रहता है कि श्रमण का प्रत्येक अंक पिछले अंकों की तुलना में हर दृष्टि से बेहतर हो और उसमें प्रकाशित सभी आलेख शुद्ध रूप में मुद्रित हों।

इस अंक के साथ हम अपने सम्माननीय पाठकों के लिये जैन कथा साहित्य में विशिष्ट स्थान रखने वाली प्राकृत भाषा में निबद्ध श्रीमद्भनेश्वर सूरि विरचित **सुरसुंदरीचरिअं** का चतुर्थ परिच्छेद जिसका संस्कृत छाया के साथ गुजराती एवं हिन्दी अनुवाद लब्धिसूरीश्वर गुरुकृपा-पात्र आचार्य राजयशसूरीश्वरजी महाराज के योग्य शिष्य गणिवर्य विश्रुतयश विजयजी ने किया है, को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है पाठक इस अद्वितीय कथारस में निमज्जन कर सकेंगे।

सुधी पाठकों से निवेदन है कि आपकी आलोचनायें ही हमें पूर्णता प्रदान करती हैं। एतदर्थ आप अपने अमूल्य विचारों/आलोचनाओं से हमें वंचित न करें, उनसे हमें सदा अवगत कराते रहें ताकि आगामी अंकों में हम अपनी कमियां सुधार सकें।

सम्पादक

‘श्रमण’ पाठकों की नजर में

‘श्रमण’ की शोधप्रधान त्रैमासिकों में उच्चस्तरीयता निर्विवाद

सम्पादक जी, आपकी सारस्वत साधना का आक्षरिक स्वरूप त्रैमासिक ‘श्रमण’ का जनवरी-मार्च, २००६ का अंक प्राप्त कर धन्यता का बोध हुआ। तपोदीप्त महनीया साध्वीश्री के पावन चित्र से अंकित इस अंक का मुखपृष्ठ केवल वरेण्य ही नहीं, कलावरेण्य भी है। इस अंक में संकलित सहज वैदुष्य-विमण्डित शोधगर्भ आलेखों से जहाँ आलेखकों की प्रज्ञाप्रौढ़िता संकेतित होती है, वहीं श्रमण-साहित्य के शोध को स्तरीयता भी प्राप्त हुई है। कहना न होगा कि ‘श्रमण’ की शोध प्रधान त्रैमासिकों में उच्चस्तरीयता निर्विवाद है। यह शोध-त्रैमासिकों में प्रथम स्थानीय है।

इस अंक में सम्मिलित कतिपय आलेख निस्सन्देह पहली बार ‘श्रमण’ पाठकों की वैचारिणी को उन्मेषित करने वाले हैं, जैसे ‘धर्मचक्र-प्रवर्तन-सूत्र : मानवीय दुःख-विमुक्ति का निदान-पत्र’ (प्रो. अँगने लाल); ‘महावीर कालीन मत-मतान्तर : पुनर्निरीक्षण’ (डॉ. विभा उपाध्याय); ‘जैनधर्म में जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता’ (दुलीचन्द जैन); वैदिक ऋषियों का जैन परम्परा में आत्मसातीकरण’ (आत्मसातीकरण अपाणिनीय प्रयोग है। पाणिनीय प्रयोग है-‘आत्मसात्करण’); ‘दया-मृत्यु’ एवं ‘संधारा-प्रथा’ का वैज्ञानिक आधार (डॉ. रामकुमार गुप्त); ‘जैन श्रमण-संघ में विधिशास्त्र का विकास (डॉ. शारदा सिंह) आदि।

निश्चय ही, आपके सम्पादकत्व में ‘श्रमण’ का शोध-स्तर पूर्वपिक्षा अधिक श्लाघनीय और व्यापक हुआ है। साथ ही, मुद्रण की शुद्धता और कलावरेण्यता में केवल आशंसिनीय ही नहीं, प्रशंसनीय परिवृद्धि भी हुई है।

भूयशः साधुवाद-सहित

- श्रीरंजनसुरिदेव, पटना

अहिंसा की आस्था

समादरणीय सम्पादक जी,

‘श्रमण’ जनवरी-मार्च २००६ के मुखपृष्ठ पर चित्रित साध्वीश्री के चित्र को देखा तो सोचने लगा, कहीं यह भक्ति साहित्य की कवियित्री मीरा का वैराग्य स्वरूप तो नहीं है। वस्तुतः जैन साध्वी का चित्रित वैराग्य स्वरूप इतना मोहक है कि भक्ति-राग की रसधार में मन निमग्न हो जाता है। अंक के मुखपृष्ठ के साथ इस भव्य चित्र का संयोजन सम्पादक के सम्पादन-कुशलता के साथ-साथ उसकी कला संवेदना को भी बखूबी उकेरता है।

वैसे तो ‘श्रमण’ के इस अंक के सभी आलेख गवेषणात्मक और अभिनव ऊर्जा प्रदान करनेवाले हैं किन्तु श्री दुलीचन्दजी जैन का “जैन धर्म के जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता” पर प्रकाशित लेख जीवन-मूल्य सम्बन्धी एक सम्पूर्ण और सविस्तर दस्तावेज है। यह पूर्णतः सच है कि अहिंसा की आस्था और अनेकान्त की उदार वैचारिकता यदि जीवन में समाहित हो जाय तो सम्पूर्ण मानवीय मूल्य स्वतः विकसित हो जायेंगे। आज का परिवेश इतना दूषित हो गया है कि जीवन मूल्य जर्जरित हो गये हैं। राजनीतिक मूल्य दिशाहीन और सांस्कृतिक मूल्य अपसंस्कृति की राह पकड चुके हैं। इन सबको समेट कर चलने वाली शिक्षा जो स्वयं में एक मूल्य है संक्रमित होती जा रही है। इसे अब भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अहिंसा की आस्था ही बचा सकती है। आशा है ‘श्रमण’ अपने आलेखों के माध्यम से इस दिशा में अपना महत्त्वपूर्ण सहकार प्रदान करता रहेगा।

डा० डी० एन० प्रसाद, सेन्टर फार अप्लाइड गान्धियन थाट ,वाराणसी

हिन्दी खण्ड

- श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व
- प्राचीन भारत में आर्थिक विचार: जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में
- जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सांख्य का विकासवाद
- बौद्ध भिक्षु संघ का विकास और नियम
- वैदिक और श्रमण परम्परा में अहिंसा
- भारत की अहिंसक संस्कृति

श्वेताम्बर आगम और दिगम्बरत्व

जस्टिस एम०एल० जैन*

कुछ वर्षों पहले विश्व प्रसिद्ध श्वेताम्बर तीर्थ राजस्थान में आबू और गुजरात में शत्रुंजय (पालीताना) के दर्शन करने का पावन अवसर मिला। वहां पाया कि दोनों तीर्थस्थलों पर एक-एक दिगम्बर मन्दिर भी हैं। हां, आबू के देवस्थान का दिगम्बर मन्दिर छोटा है परन्तु पालीताना का दिगम्बर देवालय काफी बड़ा है। निश्चय ही यह श्वेताम्बर परम्परा की सहिष्णुता का परिचायक तो है ही किन्तु इसका आगम सम्मत कारण भी होना चाहिए ; हो न हो श्वेताम्बर परम्परा में भी ऐसे लोग थे जो दिगम्बर परम्परा को भी अपना ही मानते थे, ऐसा विचार भी पैदा हुआ।

श्वेताम्बर मुनि जिनविजय जी ने बताया था कि मथुरा के कंकाली टीले में जो प्राचीन प्रतिमाएं मिली हैं वे नग्न हैं और उन पर जो लेख अंकित हैं वे श्वेताम्बर ग्रंथ कल्पसूत्र में दी गई स्थविरावली के अनुसार हैं।^१ कुछ विद्वानों की खोज यह है कि प्रारम्भ में तो तीर्थंकर मूर्तियां सर्वत्र दिगम्बर ही होती थीं किन्तु जब भेदभाव उग्र होने लगा तो एक वर्ग ने नग्न मूर्तियों के पादमूल पर वस्त्र का चिह्न बनाना प्रारम्भ कर गिरनार पर्वत पर अपनी अलग परम्परा की नींव डाली।^२ गिरनार में डाली गई यह परम्परा आगे बढ़ी और ऐसा लगता है कि वैष्णव भक्तिधारा के प्रभाव से मूर्तियों को वस्त्रालंकारों से विभूषित किया जाने लगा। दोनों ही परम्पराओं के अनुसार भूषण मण्डित स्वरूप सम्पूर्ण संन्यास के पूर्व तीर्थंकरों के युवराज पद या सम्राट पद की शोभा को दर्शित करता है। लेकिन जो विचार भेद की दरार पड़ी उसने सीमा छोड़ दी और एक दूसरे के बारे में विचित्र-विचित्र कहानियां गढ़कर परस्पर निरादर और उपेक्षा ने घर कर लिया और आगम का भी अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार वर्गीकरण कर लिया। ऐसा क्यों हुआ यह जानने के लिए मुझे श्वेताम्बर मुख्य आगम सूत्रों के अध्ययन की प्रेरणा हुई। मागधी प्राकृत भाषा का ज्ञान न होने के कारण कठिनाई आई

* २१५, मन्दाकिनी एन्क्लेव, अलकनंदा, नई दिल्ली-११००१९

किन्तु फिर भी इधर-उधर देखा तो यह लगा कि श्वेताम्बर आगम तो दिगम्बरत्व को मान्य करते हैं तथा श्वेताम्बर परम्परा में विशाल जैन साहित्य विद्यमान है और हर दिगम्बर विद्वान को इनका गहन अध्ययन करना चाहिये। यह सम्भव है कि हम उनकी कुछ बातों से कतई सहमत न हों, कई बातें अब समयानुकूल भी नहीं रहीं परन्तु इस अध्ययन से जैन धर्म की परम्परा के विकास के इतिहास का परिचय अवश्य ही मिलता है।

जहां तक न्याय, स्याद्वाद, आत्मा, कर्म आदि सिद्धान्तों का सवाल है वहां तक दोनों ही परम्पराओं के ग्रंथों में पूर्ण समानता है और शास्त्रकारों में आपस में खूब आदान-प्रदान हुआ है। क्या ही अच्छा हो यह सिलसिला आगे बढ़े जिससे रूढ़िवादी दीवारें गिराई जा सकें और जैन समाज की सच्ची परम्परा विकसित हो। तो आइए, इस दृष्टि से श्वेताम्बर मुख्य आगमों का कुछ सिंहावलोकन करें।

(१) भगवतीसूत्र में एक प्रसंग है^३ - 'स्थविर और आर्य कालासवेसिय पुत्र अनगार'। इसमें लिखा है-

तेणं कालेणं, तेणं समएणं पासवच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति.....तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वाप्पाणि सामण्ण परियागं पाउणइ, पाउणित्ता जस्सट्टाए कीरइ नग्नभावे मुंडभावे, अण्हाणयं, अदंतवणयं, अच्छत्तयं, अणोवाहणयं, भूमिसेज्जा, फलसेज्जा, कट्टसेज्जा, केसलोओ, बंभचेरवासो, परघरप्पवेसो, लद्धावलद्धी, उच्चावया, गामकंटगा, बावीसं परिसहोवसग्गा अहियासिज्जंति, तं अट्ठं आराहेइ, आराहेत्ता, चरमेहिं उस्सास-नीसासेहि सिद्धे, बुद्धे, मुक्के, परिनिव्वुडे, सव्वदुखप्पहीणे।

उस समय पार्श्वनाथ के अनुयायी कालास्यवेषिक पुत्र नाम का अनगार स्थविरों के पास आया। (उनके द्वारा सामायिक, आत्मा, व्युत्सर्ग, क्रोध, मान, माया, लोभ पर चर्चा करने के पश्चात् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म से महावीर के पंचमहाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म को प्राप्त करके विहार करने लगा)..... बहुत वर्षों तक श्रामण्य पर्याय की पालना करता हुआ कालास्यवेषिक पुत्र नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, अदन्तधावन, अछत्र, भूमि शय्या, फलक शय्या, काष्ठ शय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्यवास, परगृहप्रवेश, लब्ध्यापलब्धि, इन्द्रियों के लिए कण्टक के समान २२ परिषहों को सहने लगा और चरम उच्छ्वास निःश्वास

की आराधना करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिवृत्त, सर्वदुःखहीन हो गया।

इस वर्णन से यह जाहिर होता है कि उस समय जैन साधु संघ दो दलों में विभाजित थे। एक थे पार्श्वनाथ के अनुयायी “पार्श्वपत्य” जो सामायिक नहीं करते थे और आत्मा को ही सामायिक मानते थे तथा प्रतिक्रमण भी नहीं करते थे और ब्रह्मचर्य नामक अलग से महाव्रत नहीं मानते थे। दूसरे थे महावीर के अनुयायी बहुश्रुत “स्थविर” जो सामायिक प्रतिक्रमण नियमपूर्वक करते थे और ब्रह्मचर्य को अलग से महाव्रत मानते थे। जब कालस्यवेषिक पुत्र से स्थविरों का वार्तालाप और विचारों का आदान-प्रदान हुआ तो वह भी महावीर का अनुयायी होकर नग्न विचरण करने लगा। इसका यह अर्थ स्पष्ट है कि महावीर के स्थविर शिष्य दिगम्बर ही होते थे और नग्नता की श्रेष्ठता ही इस कथानक से दर्शित है।

इसी की पुष्टि कात्यायन सगोत्र स्कंदक परित्राजक के प्रसंग से होती है^४ जिसने श्रमण महावीर के पास जाकर उनके वचनों से प्रभावित होकर अपने त्रिदण्ड और कुण्डिका का ही नहीं किन्तु एकान्त में जाकर अपने गेरुआ वस्त्रों को भी छोड़ दिया। उसके पश्चात् श्वेत वस्त्र धारण करने का कोई संकेत नहीं है।

(२) आचारांग सूत्र^५ में साधुओं के वस्त्रों के विषय में चर्चा इस प्रकार है—

जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते पायचउत्थेहिं तस्सणं णो एवं भवति चउत्थं वत्थं जाइस्सामि। से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा, अपलिउंचमाणे णामंतरेसु, ओमचेलिए। एयं खु वत्थधारिस्स सामगियं ।१। अहपुण एवं जाणेज्जा उवतिककंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं, वत्थाइं परिडुवेज्जा, अदुवा संतरुत्तरे, अदुवा ओमचेले, अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवति। जमेयं भगवया पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सब्वतो सब्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।२। जस्सणं भिक्खस्स एवं भवति—पुट्ठो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए से वसुमं सब्व समण्णागय पन्नाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आउट्ठे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमादिए, तत्थावि तस्स काल परियाए, सेवि तत्थ विअंतिकारए इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं ति बेमि।। आयारो-१।८।४।४३-६१।।

जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिते पाय तइएहिं तस्स णं णो एवं भवति

तइयं वत्थ जाइस्सामि। से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा, अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा। णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा। अपलिउंचमाणे गामंतरेसु। ओमचेलिए। एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं। अहपुण एवं जाणेज्जा उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्टवेज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेलए, अदुवा एगसाडे, अदुवा अचेले, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसम्मणागए भवति। जमेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए मसत्त-मेव समभिजाणिया (आयारो-१।८।४।६२-७४)

जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिते पायविइएण, तस्स णो एवं भवइ विइयं वत्थं जाइस्सामि से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा, अहापरिग्गहियं वत्थं धारेज्जा, णो धोएज्जा... गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुणं वत्थं परिट्टवेज्जा, अदुवा अचेले, एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे, ...जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया, जस्स णं, भिक्खुस्स एवं भवइ एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्स, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया (आयारो-१।८।४।८५-९६)

इसके अनुसार जिस साधु को एक पात्र और तीन वस्त्र रखना हो उनको ऐसा विचार न हो कि मुझे चौथा वस्त्र चाहिए। यदि तीन वस्त्र पूरे न हों तो निर्दोष वस्त्र की याचना जहां मिले वहां करना। जैसे निर्दोष वस्त्र मिले वैसे ही पहिनना परन्तु उस वस्त्र को धोना नहीं, रंगना नहीं, धोए हुए, रंगे हुए वस्त्र को धारण करना नहीं, ग्रामानुग्राम विचरते-विचरते वस्त्र को छिपाना नहीं-यह वस्त्रधारी मुनि का आचार है।

जब ऐसे साधु का विचार हो कि सर्द ऋतु बीत गई है और ग्रीष्म ऋतु आ गई है अवथा क्षेत्र स्वभाव से उष्णकाल में भी सर्दी का आना सम्भव हो तो तीनों रखे या तीन में से एक छोड़े दो रखे, या दो छोड़ एक रखे या बिल्कुल न रखे। ऐसा करने से निर्ममत्व धर्म की प्राप्ति होती है, इससे लाघवपन आता है, इसको भी भगवान ने तप कहा है। वस्त्र रखने और वस्त्र न रखने में समभाव रखना। जिस साधु को ऐसा विचार हो कि मुझको शीत आदि परीषह आ पड़े हैं इनको मैं सहन करने में असमर्थ हूँ तब उस स्थान पर साधु को वेहानसादिक मरण करना उचित है वहाँ ही उसकी काल पर्याय है (जैसे भक्त परिज्ञादिक काल

पर्याय वाला मरण हितकर्ता है वैसे ही यह वेहानसादिक मरण हितकर्ता है।) इस तरह मरण करने वाला मुक्ति को जाता है। इस तरह यह वेहानसादि, मरण मोह रहित पुरुषों का कृत्य है, हितकर्ता है, सुख कर्ता है, योग्य है, कर्मक्षय करने वाला है और उसका फल भी भवान्तर में साथ रहता है, ऐसा मैं कहता हूँ।
॥

किसी साधु को एक पात्र और दो वस्त्र रखने का नियम हो तो उसको ऐसा विचार नहीं होना चाहिए कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूँ। यदि इतने वस्त्र नहीं हों तो जैसा मिले वैसा शुद्ध निर्दोष वस्त्र मांग कर धारण करना—यही साधु का आचार है। जब साधु को ऐसा लगे कि शीतकाल व्यतीत हुआ है ग्रीष्म ऋतु आ गई है इसलिए मेरे पास के दो वस्त्रों में से खराब वस्त्र डाल दूँ, और अच्छा वस्त्र रखूँ या लम्बे को कम करने या एक ही वस्त्र रखूँ या वस्त्र रहित रहूँ तो ऐसा करने में लाघव धर्म होता है। इसे तप कहा गया है इसलिए जैसा भगवान ने कहा है वैसा जानकर वस्त्र रहितपने में और वस्त्र सहितपने में समभाव रखना।

जिस साधु को एक पात्र के साथ एक ही वस्त्र रखने की प्रतिज्ञा हो उनको ऐसी चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि दूसरा वस्त्र रखूँ। यदि वस्त्र न हो तो शुद्ध वस्त्र की याचना करे, जैसा मिले वैसा पहिने। उष्ण ऋतु आने पर या तो एक वस्त्र युक्त रहे या वस्त्र रहित रहे तथा विचार करे कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, ऐसी एकत्व भावना भाता हुआ अपने सदृश सबको जाने उससे लाघव धर्म की प्राप्ति होती है और इसी से तप होता है। इसलिए जैसा भगवान ने कहा वैसा ही जानकर समभाव रखना।

(३) आयारो (आचारांग) सूत्र में लिखा है—अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिइं सुपणिहिए चरे, अपलीयमाण दढे। सव्वं गेहिं परिण्णाय, एस पणए महामुणी। अइअच्च सव्वतो संगं “ण महं अत्थित्ति इति एगोहमंसि” जयमाणे एत्थ विरते अणगारे सव्वओ मुंडे रीयंते जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए। से अकुट्ठे व हए व लूसिए वा। पलियं पंगंथे अदुवा पंगंथे। अतहेहिं सद फासेहिं इति संखाए। एगतरे अण्णयरे अभिण्णाय तित्तिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी, जे य अहिरीमणा। चेच्चा सव्वं विसोत्तियं फासे-फासे समियदंसणे।

एत भो णगिणा वुत्ता जे लोगंसि अणागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं।

६ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

एस उत्तर वादे, इह माणवाणं वियाहिते। एत्थो-वरए तं झोसमाणे। आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएण विगिंचइ। इहमेगेसिं एगचरिया होति। तत्थियराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धे सणाए सव्वेसणाए। से मेहावी परिव्वए। सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेखा पाणपाणे किलेसंति। ते फासे पुट्टो धीरो अहियासेज्जासि।

उवगरणपरिच्चायधुत्, पदं

एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता। जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ-परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सूइं जाइस्सामि, संधिस्सामि सोवीस्सामि, उक्का सिस्सामि, वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि, पाउणिस्सामि।

अदुवा तत्थपरक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीय-फासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति। एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले।

लाघवं आगममाणे। तवे से अभिसामण्णागए भवति। जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समतमेव समभिजाणिया।^६

जो साधु धर्म को जानता है उस पर आचरण करता है और बाह्य आचरण की भी रक्षा करता है, सांसारिकता से दूर दृढ़ रहता है, सारे लोभ आकांक्षाओं को जानकर छोड़ता है, वह महामुनि हो जाता है। वह सारे बंधन तोड़ देता है, सोचता है कि कुछ भी मेरा नहीं है- केवल एक मैं हूँ इस प्रकार विरत हो जाता है, अनगार होकर मुंडित होकर विहार करता है, अचेल साधु व्रत करता हुआ देह से संघर्ष करता है। उसे लोग गाली देंगे, प्रहार करेंगे और असत्य दोषारोपण करेंगे- इन सबको पूर्व जन्म का फल समझ कर सुख दुःख में समभाव रख कर शांति से विचरण करता है, सांसारिकता को छोड़कर सब कुछ सहन करता हुआ सम्यक् दर्शन को बार-बार धारण करता है।

हे मानवो !वही नग्न है जो सांसारिकता से निवृत्त होकर मेरे द्वारा दर्शित धर्म को धारण करते हैं, यह उच्चतम धर्म मानवों के लिए विहित किया गया है। इस बात से हर्षित होकर कर्मों का नाश करते हुए धूतवादी मुनि कर्मों का क्षय करने हेतु एकल विहारी प्रतिमां अंगीकार करता है। इसलिए वही मुनि है। बुद्धिमान लोगों को श्रमण का जीवन बिताना चाहिए, शुद्ध भिक्षा ग्रहण करना चाहिए, सभी प्रकार के परिवारों से आहार चाहे सुगंधित हो या दुर्गंधवाला। दुष्ट प्राणी दूसरे प्राणियों को दुःख पहुँचाते हैं यदि यह सब आपके साथ हो तो मेरा

आदेश है कि उसे सहन करो।

ऐसा मुनि जो अचेल है, धर्म को जानता है, आचरण और संयम से रहता है उसको ऐसा विचार नहीं होता कि मेरे वस्त्र परिजीर्ण हैं, नए के लिए याचना करूंगा, डोरे के लिए याचना करूंगा, सुई के लिए याचना करूंगा, उनको सी लूंगा, उनको सुधार लूंगा, पहन लूंगा या ओढ़ लूंगा।

इस प्रकार का अचेलक जो तप में पराक्रम दिखाता है उसे अक्सर घास चुभेगी, शीत-उष्ण, दंश-मशक परेशान करेंगे, वह अपनी इच्छाओं व कर्मों का दमन करता है, वही तप करने के योग्य है- ऐसा भगवान ने कहा है यह समझकर सम्यक्त्व को धारण करता है।

जे अचेले परिवुसिते, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ-चाएमि अहं तण फासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, दंसमसगफासं अहियासित्तए, एगतरे अण्णतरे वरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हरिपडिच्छादणं चहं णो संचाएमि, अहिया-सित्तए, एवं कथति से कडि वंधणं धारित्तए।

अदुवा तत्थपरक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीय फासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति, एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले। लाघवियं आगममाणे। तवे से अभिसमन्नागए भवति जमेयं भगवता- पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

जो भिक्षु अचेल रहता है उसे नहीं सोचना चाहिए कि मैं तृण, सर्दी, गर्मी, दंशमशक या अन्यतर विविध प्रकार के परीषह सहन कर सकता हूँ किन्तु मैं गुप्तांगों के आवरण को नहीं छोड़ सकता, यदि ऐसा हो तो वह कटिबंधन धारण कर सकता है।

यदि अचेल भिक्षु अपने चरित्र में दृढ़ रहता है और तृण, शीत, उष्ण, दंशमशक या अन्य विविध प्रकार के परीषहों को सहन करता है तो वह लाघवता को प्राप्त करता है। इसको भी भगवान ने तप कहा है और सर्वदा सर्वकाल समभाव रखे।

इसे जिनकल्पी साधुओं का आचरण बताया गया। इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी 'अचेल' शब्द का अर्थ अल्प वस्त्र किया गया। अब तक के परिशीलन से जाहिर है कि श्वेताम्बर आगमों में वस्त्ररहित साधु के अस्तित्व व

८ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

समादर का वर्णन ही नहीं है उनके आचरण के नियम भी बताए गए हैं।

(४) उत्तराध्ययन सूत्र^७ में भिक्षु के लिए लिखा है कि-

एगयाचेलए होइ, सचेले यावि एगया ।
एयं धम्महियं नच्चा नाणी णो परिदेवए ॥

अर्थात् कभी अचेलक होने पर तथा कभी सचेल होने पर दोनों ही अवस्थाएं धर्म हित के लिए हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी खेद न करे।

अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो ।
तणेसु सयमाणस्स हुज्जा गायविग्रहणा ॥
आयवस्स निवाएणं, अतुला हवइ वेयणा ।
एयं णच्चा न सेवंति, तंतुजं तणतज्जिया ॥

जब अचेलक संयमी तपस्वी रुक्ष तृण शय्या पर सोता है तो उसके गात्र को विराधना (क्षति) होगी तथा आतप होने पर अतुल वेदना होगी, इस प्रकार तृणकदर्शित होने पर भी भिक्षु तन्तुज (वस्त्रादि) को धारण नहीं करेगा।

उत्तराध्ययन सूत्र के ही २३वें अध्ययन में केशी गौतम का परिसंवाद विस्तार से लिखा है जो इस प्रकार है-

केशी पार्श्वनाथ के शासन के शिष्य थे और गौतम महावीर के शिष्य थे। दोनों का एक समय श्रावस्ती नगरी में अपने-अपने शिष्य समुदाय के साथ निवास हुआ-दोनों ही अचित्त घास की शैय्या पर, केशी तिन्दुक नामक उद्यान में तथा गौतम कोष्टक नामक उद्यान में ठहरे थे- एक दिन भिक्षा के निमित्त उनके शिष्य निकले और आमना-सामना हुआ तो एक ही ध्येय होने तथा एक ही धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेश तथा साधु क्रियाओं में अन्तर दिखाई देने से एक दूसरे के प्रति संदेह उत्पन्न हुआ-

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
एगकज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ॥

(अचेलकश्च यो धर्मो, यो सांतराणि एक कार्यं प्रपन्नौ विशेष किं नु कारणं)

यह बात जब श्रमण गौतम तक पहुंची तो वे स्वयं केशी मुनि के उद्यान में गए। केशी मुनि ने पूछा-

एग कज्जपवण्णाणं, विसेसे किं नु कारणं ।

धम्मे दुविहे मेहावि क्हं विप्पच्चओ न ते ॥२८॥

अचेलओ अ जो धम्मो जो इयो संतरुत्तरो ।

देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२९॥

एगकज्जपवण्णाणं, विसेसे किं नु कारणं ।

लिंगे दुविहे मेहावी! क्हं विप्पच्चओ न ते? ॥३०॥

हे मेधावी, एक कार्य प्रपन्न होते हुए भी धर्माचरण दो प्रकार का तथा लिंग भी दो प्रकार का अचेलक व सांतरोत्तर ऐसा क्यों? क्या इस विषय में आपको शंका नहीं होती?

गौतम का उत्तर था कि हे महामुनि! समय का विज्ञान पूर्वक सूक्ष्म निरीक्षण कर तथा साधुओं के मानस को देखकर इस प्रकार भिन्न-भिन्न धर्म साधन रखने का विधान किया गया है, जैन साधुओं की पहचान के लिए ये नियम बनाए गए हैं, अन्यथा मोक्ष के साधन तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र हैं।

इस संवाद से यह स्पष्ट है कि गौतम स्वामी अचेलक नग्न थे और केशी मुनि सचेल, आगे चलकर इस विषय पर यों वृत्ति की गई कि सामान्य रीति से नञ् समास का अर्थ नकारवाची अर्थात् अचेलक का अर्थ वस्त्ररहित-अवस्त्र ऐसा किया जा सकता है। किन्तु महावीर ने वस्त्र की अपेक्षा वस्त्रजन्य मूर्च्छा को दूर करने पर विशेष जोर दिया इसलिए नञ् समास के छह अर्थों में से ईषत् (अल्प) यह अर्थ ही उचित है, परन्तु यदि ऐसा होता तो केशी मुनि कोई संशय न करते। इसके इलावा अचेलक का अर्थ ईषत् चेल मान लिया जाए तो फिर अहिंसा महाव्रत का अर्थ अल्प हिंसा, असत्यत्याग महाव्रत का अर्थ अल्प सत्य और अस्तेय का अर्थ अल्प स्तेय करना पड़ेगा। यदि अल्प वस्त्र और अधिक वस्त्र की ही समस्या होती तो केशी मुनि वस्त्रों की संख्या के बारे में ही प्रश्न करते, इस कठिनाई को पहचानकर नेमिचन्द्राचार्य ने यह टीका की कि अचेलक धर्म वर्द्धमान स्वामी ने चलाया था, कारण यह कि पार्श्वनाथ ने तो वस्त्र पहनने की अनुज्ञा दी थी किन्तु इसका अर्थ रंगीन वस्त्र का निषेध न होने के कारण भिक्षुओं ने रंगीन वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर महावीर भगवान ने वस्त्र का ही निषेध कर दिया।

इस संवाद और टीका के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि

१० : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

दिगम्बरत्व संपूर्ण जैन शासन का एक विशिष्ट अंग रहा है किन्तु वस्त्रधारी श्रमणों ने अपना पक्ष सबल करने के लिए अचेलक शब्द का अर्थ ही अल्पवस्त्र कर डाला। जान पड़ता है यहीं से श्वेताम्बर परम्परा में दिगम्बरत्व के विरोध की नींव डाल दी गई।

(५) ठाणं में उल्लेख इस प्रकार है -

से जहाणामए अज्जो। मए समणाणं णिग्गंथाणं णग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए अदंतवणए, अच्छतए, अणुवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए वंभचेरवासे परघर पवेसे लद्धा वलद्ध वित्तीओ पण्णत्ताओ।

यह नग्न निग्रंथों के आचार का स्पष्ट ही उल्लेख है।

(६) कल्पसूत्र^१ में भगवान महावीर की दीक्षा का वर्णन करते हुए बताया है कि-

उवागच्छिता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ, अहे सीयं ठावित्ता सीयाओ पच्चोरुहइ, सीयाओ पच्चोरुहिता सयमेव आभरण-मल्लालंकारं ओमुयति, ओमइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ, करित्ता छट्ठेणं भत्तेण अपाणएणं हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवा-गएणं एणं देवदूसमादाय एगे अबीए मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए।

समणे भगवं महावीरे संवच्छरं साहियं मासं चीवरधारी होत्था तेण परं अचेलए पाणिपडिग्गहिए।

ज्ञातृ खण्डवन पहुंच कर अशोक वृक्ष के नीचे शिविका रखी गई, शिविका रखे जाने पर भगवान शिविका से उतरे, शिविका से उतर कर स्वयं आभरण, माला, अलंकार उतारे तथा उनके उतारने के बाद स्वयं पंचमुष्टि केश लोचन किया और पानी रहित छट्ठभक्त अर्थात् दो उपवास किए। हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग आने पर एक देवदूष्य को लेकर एकाकी हो मुंडित होकर, गृह त्याग कर अनगारत्व को स्वीकार किया।

श्रमण भगवान महावीर तेरह महीने तक चीवरधारी रहे उसके बाद अचेलक तथा करपात्री हो गए।

इस पर विनयगणि की टीका का सार इस प्रकार है कि जब भगवान ने देवों द्वारा लाई गई शिविका से ज्ञातृ खण्डवन उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे उतरकर स्वयमेव आभरण माल्यालंकार उतार दिए और पंचमुष्टि केश लोचन

किया तत्पश्चाद् इंद्र ने उनके वाम स्कंध पर एक देवदूष्य रखा जिसे लेकर अगार से अनगार हो गए, सामायिक में बैठे और उन्हें चतुर्थ ज्ञान हो गया—कुछ समय पश्चात् कोल्लाक सन्निवेश में बहुल ब्राह्मण गृह में यह कहकर कि मेरे द्वारा सपात्र धर्म प्रज्ञापनीय है, गृहस्थ के पात्र में प्रथम पारणा किया तब पंच दिव्य प्रादुर्भूत हुए (१) चेलोक्षेप, (२) गंधोदकवृष्टि, (३) दुन्दुभिनाद, (४) अहोदानं अहोदानं ऐसी उद्घोषणा और (५) वसुधारावृष्टि। तदनंतर अस्थिक ग्राम में पांच अभिग्रह धारण किए— (१) नाप्रीतिमद्गृहेवासः, (२) स्थेयं प्रतिमया सदा, (३) न गेहिविनयः कार्यः, (४) मौनं, (५) पाणौ च भोजनम् ।

वार्षिक दानावसर पर कोई दरिद्र परदेश गया हुआ था, लेकिन दुर्भाग्य से कुछ भी कमा कर नहीं ला सका तो उसकी भार्या ने उसे झिड़का, अरे अभाग्य शेखर! जब वर्धमान मेघ की तरह स्वर्ण बरसा रहे थे तब तू विदेश चला गया और फिर निर्धन ही समागत हुआ। दूर हट, मुंह न दिखा, अब भी तू जंगम कल्पतरु से भीख मांग, वही तेरा दारिद्र्य हरेगा—इस प्रकार पत्नी के ऐसे वाक्यों से प्रेरित होकर वह भगवान के पास पहुंचा और प्रार्थना की प्रभु आप जगदुपकारी ने विश्व भर का दारिद्र्य निर्मूल कर दिया किन्तु दुर्भाग्य से उस समय मैं यहाँ नहीं था, भ्रमण करते हुए भी मुझे कुछ मिला नहीं, निष्पुण्य, निराश्रय, निर्धन मैं, आप जगद्वाञ्छित दायक की शरण में आया हूँ। विश्व दारिद्र्य को हरने वाले आपके लिए मेरी दरिद्रता कितनी सी है। इस प्रकार याचना करने वाले विप्र के प्रति करुणापरण भगवान् ने आधा करके देवदूष्य दे दिया। विप्र उसे ले गया और दशांचल के लिए तन्तुवाय को दिखाया और सारा व्यतिकर सुनाया तो वह बोला, हे ब्राह्मण, तू उन्हीं प्रभु के पीछे जा वे निर्मम करुणाम्बोधि द्वितीय अर्ध भाग को भी दे देंगे तब मैं दोनों आधे-आधे टुकड़ों को जोड़ दूँगा। इस प्रकार अक्षत होने पर इस का मूल्य एक लाख दीनार हो जाएगा। तब हम उस रकम को आधा—२ बांट लेंगे और हम दोनों का दारिद्र्य दूर हो जाएगा। तब वह पुनः प्रभु के पार्श्व में आया किन्तु लज्जा के कारण कुछ कहने में असमर्थ साल भर तक उनके पीछे-पीछे घूमता रहा। १३ महीने के बाद घूमते हुए भगवान् जब दक्षिण वाचालपुर के पास सुवर्णवालुका नदी तट पर आए तो कंटकों से उलझकर आधा देवदूष्य भी गिर गया। तब पिता के मित्र उस ब्राह्मण ने उसे उठा लिया और चल दिया। अतः भगवान ने सवस्त्र धर्म प्ररूपण के लिए मासाधिक एक वर्ष तक वस्त्र को स्वीकार किया, सपात्र धर्म की स्थापना के लिए प्रथम पारणा में पात्र का उपयोग किया, उसके बाद जीवन भर अचेलक पाणि पात्र रहे।

कल्पसूत्र के नवें क्षण में जिनकल्पी व स्थविर कल्पी दोनों साधुओं के चारित्र के नियम दिए हैं।

कल्पसूत्र की विनयविजय गणि द्वारा कृत सुबोधिका वृत्ति का प्रारम्भ करते हुए लिखा गया है कि कल्प का अर्थ साधुओं का आचार है। उसके दस भेद हैं- (१) आचेलक्कु, (२) देसिअ, (३) सिज्जायर, (४) रायपिंड, (५) किइकमो, (६) वय, (७) जिट्ट, (८) पडिक्कमणे, (९) मासं, (१०) पज्जासवणकप्पे।

इनमें से अचेलक की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'न विद्यते चेलं यस्य स अचेलकस्तस्य भावं आचेलक्यं विगतवस्त्रत्वं इत्यर्थः तच्च तीर्थेश्वरानाश्रित्य प्रथमांतिमे जिनयोः शक्रोपनीत देवदूष्यापगर्मे सर्वदा अचेलकत्वं अन्येषां तु सर्वदा सचेलकत्वं । किन्तु इसी ग्रंथ कल्पसूत्र की किरणावली टीका में यह लिखा है कि २४तीर्थकरों के शक्रोपनीत देवदूष्य के अपगम पर अचेलकत्व हो जाता है। विजयगणि ने इसको समझाते हुए लिखा कि अजितनाथ से लेकर २२ तीर्थकरों के साधु समाज "बहुमूल्य विविध वर्ण वस्त्र परिभोगानुज्ञा सदभावेन सचेलकत्वं मेव केषांचिच्च श्वेतमानो पेत वस्त्र धारित्वेन अचेलकत्वं अपि इति अनियतः तेषां अयं कल्पः श्री ऋषभवीर तीर्थ यतीनां च सर्वेणां अपि श्वेतमानो पेत जीर्ण प्रायवस्त्र धारित्वेन अचेलकत्वं।"

वस्त्र परिभोग होने पर अचेलक कैसे होगा? इस शंका का निराकरण यों कर दिया कि जीर्णप्राय तुच्छ वस्त्र के होने पर भी 'अवस्त्रत्वं' ऐसा जगत् प्रसिद्ध है। जैसे लंगोटी लगाकर नदी पार करने पर भी कहते हैं कि नग्न होकर नदी पार की तथा दर्जी या धोबी से वस्त्र जल्दी लेने के लिए कहते हैं कि भाई, जल्दी दो हम तो नंगे हो रहे हैं- उसी प्रकार साधुओं के वस्त्र होते हुए भी अचेलकत्व जानना चाहिए।

उपरोक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भी भगवान् महावीर उस समय दिगम्बर थे जब उन्हें केवल ज्ञान हुआ और मुक्ति प्राप्त की। इन्हीं को ध्यान में रखकर पं० सुखलाल जी संघवी ने^{१०} लिखा कि भगवान् महावीर ने अपने शासन में दोनों दलों का स्थान निश्चित किया जो बिल्कुल नग्नजीवी व उत्कट विहारी थे और जो बिल्कुल नग्न नहीं थे, ऐसा मध्यममार्ग था। उन दोनों दलों के आचारों के विषय में मतभेद रहा।

विचार करने से जान पड़ता है कि जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में तीन

वस्त्र, दो वस्त्र, एक वस्त्र और अवस्त्र की मर्यादाएं रखी गई हैं, ठीक वही मर्यादाएं दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक, ऐलक, दिगम्बर मुनि के रूप में प्रस्थापित की गई हैं। आगे चलकर यह भेद यों बढ़ा कि श्वेताम्बर परम्परा सवस्त्र मुक्ति मानती है जबकि दिगम्बर परम्परा दिगम्बर होने के बिना मुक्ति की कल्पना भी नहीं करती। इसका कारण शायद स्त्री मुक्ति की संभावना पर टिका है। दोनों ही परम्पराएं स्त्री के लिए आवरण आवश्यक मानती हैं। अतः दिगम्बरत्व पर पूर्ण बल देने वाली परम्परा ने नारी मुक्ति का ही निषेध कर दिया जबकि श्वेताम्बर परम्परा ने सावरण स्त्री मुक्ति स्वीकार कर ली तो फिर सावरण पुरुष की मुक्ति भी स्वीकार करनी पड़ी। जान पड़ता है नारी मुक्ति को लेकर ही दोनों परम्पराएं एक दूसरे से बहुत दूर चलती गईं।

वस्तुतः जब से भारतीय संस्कृति आत्मोन्मुखी या कहिए परमात्मोन्मुखी हुई तब से ही श्रमण उसकी आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। महावीर और बुद्ध के जमाने में और उससे पहले भी दिगम्बरत्व श्रमण्य का प्रतीक बन चुका था। कई श्रमण नग्न विहार करते थे। मक्खलि गोशाल नंगा रहता था। पूर्णकस्सप ने भी वस्त्र धारण करना इसलिए स्वीकार नहीं किया कि दिगम्बर रहने से ही मेरी प्रतिष्ठा रहेगी।^{११} प्रसेनजित के कोषाध्यक्ष मृगांक के पुत्र पूर्ण वर्द्धन की स्त्री विशाखा ने कहा था कि भगवन् ! बरसात के दिनों में वस्त्रहीन भिक्षुओं को बड़ा कष्ट होता है इसलिए मैं चाहती हूँ कि संघ को वस्त्र दान करूं।^{१२} यों देखा जाए तो हर धर्म में यह श्रमण परम्परा अंशाधिक रूप में पाई जाती है और भारत की श्रमण परम्परा में नवीनता नहीं है, विशेषता अवश्य है; यह विशेषता है त्याग की और यही विशेषता जैन धर्म में और भी विशिष्ट हो गई है; जब श्रमण गृहत्याग करके अनगार हो जाता है तो फिर उस अवस्था को अवश्य पहुंचेगा जब वस्त्र उसकी सिद्धि में बाधक लगने लगेगा।

यही कारण है कि जैन धर्म के श्वेताम्बर आगम भी दिगम्बरत्व की विशेषता को अनदेखा नहीं कर सके और उसे कल्प का सर्व प्रथम रूप मानकर उसके बारे में लिखा।

इस लेख के माध्यम से श्वेताम्बर समाज के उस वर्ग को प्रोत्साहित करना है जो दिगम्बरत्व के प्रति आदर भाव तथा समभाव रखने के अपने आगम आदेश को पूर्ण सम्मान देकर उसका पालन करें।

१४ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

सन्दर्भ

१. जैन हितैषी भाग १३, अंक ६, पृ० २९२।
२. धर्मसागर उपाध्याय, प्रवचन परीक्षा।
प्रेमी नाथूराम, जैन साहित्य और इतिहास पृ० २४१।
३. भगवती सूत्र, सुधर्मा स्वामी प्रणीत अभयदेव सूरि विरचित विवरण सहित, जिनागम प्रकाशक सभा, मुम्बई वि० सं० १८५४ शतक १, उद्देशक ९, पृ० २०६-२०९ तथा २९६-३००।
४. उपरोक्त शतक २, उद्देशक १, सूत्र १८, पृ० २३८।
५. (a) सुधर्मा स्वामी 'आचारांग' प्रथम श्रुतस्कंध 'विमोक्ष' नामक अष्टम अध्ययन उद्देश ४, ५, ६।
(b) अंग सुत्ताणि, जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान) वि० सं० २०३१, आचारो, अष्टम अध्ययन उद्देश ४, ५, ६, ७ पृ० ६२-६५। Sacred Books of the East-Vol. २२ Jain Sutras Pt. मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९६४।
६. उपरोक्त आचारो छठा अध्ययन उद्देश २-३, पृ० ५०-५२।
आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध भद्रबाहु स्वामी कृत निर्युक्ति श्री शीलांकाचार्य कृत वृत्तियुक्त, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, जैनानन्द पुस्तकालय, सूरत, सन् १९३५ पाना नं० २१९-२२१।
७. उत्तराध्ययन सूत्र नेमिचन्द्राचार्य विरचित सुखबोधवृत्ति बालापुर (वलाद) अहमदाबाद सन् १९३७ द्वितीय अध्ययन सूत्र १३, ३४, ३५. Sacred Books of the East-Vol. २३ Jain Sutras pt. II, Motilal Banarasidas, १९ (७) व पृष्ठ १३ (१७)।
८. अंगसुत्ताणि, जैन विश्वभारती, लाडनू भाग १, नवम ठाण, पृ० ८९१।
९. (a) कल्पसूत्र, विनयविजय गणि विरचित सुबोधिकावृत्ति, जैन आत्मानंद जैनसभा, भावनगर, १९१५, षष्ठ क्षण, सूत्र ११८, पृ० १५७।
(b) कल्पसूत्र, प्राकृत भारती, जयपुर, सूत्र ११४-११५।
(C) Sacred Books of the East- Jaina Sūtras Pt. I, Motilal Banarasidas, Delhi 1964, Kalpa Sūtra DP.
१०. संघवी सुखलाल, तत्त्वार्थसूत्र, भारत जैन महामण्डल, वर्धा परिचय पृ० २२-२३।
११. भदन्त बोधानन्द महास्थविर-भगवान गौतम बुद्ध, प्र० बुद्ध विहार, लखनऊ।
१२. डा० रमेशचन्द्र जैन, बौद्ध साहित्य में निगण्टों का उल्लेख, महावीर स्मारिका, राजस्थान जैन सभा, जयपुर १९९२ पृ० ३, ९ व ११।



प्राचीन भारत में आर्थिक विचार : जैन आगमों के परिप्रेक्ष्य में

कु. रंजना श्रीवास्तव*

प्रत्येक कार्य जिससे धन-सम्पत्ति अर्जित होती है, उत्पादक कहा जाता है। भौतिक पदार्थ तो प्रकृति प्रदत्त ही होते हैं, मनुष्य तो एक-परमाणु भी उत्पन्न नहीं कर सकता। केवल वह अपने विचारों से उनका रूप अथवा परिमाण बदल देता है, जिससे उन पदार्थों का मूल्य बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ, 'लोहे' अथवा 'कोयले' को मनुष्य उत्पन्न नहीं करता, लेकिन शहरों में पहुँच जाने पर उनके मूल्य में वृद्धि हो जाती है।^१ अतः विचार और पदार्थ का अन्योन्याश्रित होना अपरिहार्य है अन्यथा दोनों का पृथक् अस्तित्व 'पलाश-पुष्प' (सुगन्धरहित) को अभिव्यक्त करता है। अतएव प्राचीन, भारत अपने आर्थिक विचारों को 'सम्यक् मूर्तता' प्रदान कर 'सोने की चिड़िया' के रूप में लोकविश्रुत हुआ। और 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' को आत्मसात का श्रमण परम्परा के जैन तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह'^२ सिद्धान्त के द्वारा नूतन अर्थशास्त्र की संकल्पना को व्यवहार में अपनाने की प्रेरणा श्रमण उपासकों को देकर नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से युक्त एक नये समाज की नींव रखी।

प्राचीन भारत के आर्थिक विचार 'पुरुषार्थ' के जीवन-दर्शन के माध्यम से प्रतिपादित हुए हैं; जिसमें 'अर्थ' भी एक प्रधान तत्त्व निरूपित है। वर्ण और आश्रम के अन्तर्गत रहकर व्यक्ति पुरुषार्थ के द्वारा दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता ही था, साथ ही साथ वह भौतिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष भी प्राप्त करता था। इसीलिए मनीषियों ने पुरुषार्थ के अन्तर्गत 'अर्थ' की नियोजना की। महाभारत के उद्योगपर्व में 'अर्थ' को 'त्रिवर्ग' के प्रधान आधार-तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। कौटिल्य और वृहस्पति जैसे प्राचीन शास्त्रकारों ने भी अर्थ को संसार का मूल बतलाया है। शुक्राचार्य के अनुसार अर्थार्जन 'अर्थशास्त्र' से संयुक्त था। नामलिंगानुशासन में वर्णित है कि

* शोधछात्रा टी.डी.पी.जी.कालेज, अर्थशास्त्र-विभाग, जौनपुर।

अर्थार्जन के अन्तर्गत द्रव्यवित्त, स्वापतेयम्, हिरण्यम् इत्यादि को गृहीत किया गया है।^३

ज्ञातव्य है कि प्राचीन ग्रन्थकार अर्थ या धन के अर्जन से सम्बन्धित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का प्रयोग करते थे। कौटिल्य ने वार्ता की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखा है कि कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वार्ता के विषय थे। और वार्ता के साधन से राजा अपने कोशागार और सेना को बलशाली करके शत्रु को अपने अधीन कर लेता था। महाभारत में वर्णित है कि वार्ता से संसार का पोषण होता था, इसलिए वह लोक का मूल था। स्मृतिकार मनु और कोषकार अमरसिंह ने वार्ता को 'जीविका' का पर्यायवाची बतलाया है। वस्तुतः शब्द 'वृत्ति' से व्युत्पन्न है, जो व्यवसाय और उसके निमित्त किये जाने कार्य से सम्बद्ध है। जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के विकास में महत्त्वपूर्ण साधन था और जो 'राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था' का परिचायक था। साथ ही जिसका प्रयोग प्राचीन भारत में 'वित्त एवं राजस्व' के लिए होता था।

ध्यातव्य है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने आज की भाँति स्वतन्त्र विषय के रूप में अर्थशास्त्र का निरूपण नहीं किया था। अपितु उनके लिए अर्थशास्त्र आधुनिक विषयों की भाँति एक सामाजिक विज्ञान था, जिसका सम्बन्ध दैनिक जीवन के समस्त कार्यकलापों और उसके उचित प्रशासन से था। जिसका बोध कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुशीलन से हो जाता है। जिसमें अर्थ-सम्बन्धी विचारों के साथ-साथ मानव-जीवन सम्बन्धी प्रत्येक पक्ष के लिए गंभीर विचार उपलब्ध हैं। तद्वत् चतुर्थवेद, उन पर आधारित उपनिषदें, मुख्य स्मृति-ग्रन्थ, महाकाव्य रामायण व महाभारत, शुक्रनीति इत्यादि प्राचीन ग्रन्थों में संदर्भ विषयों के साथ-साथ आर्थिक विचार पर भी गंभीर व महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में 'अर्थ' कभी साध्य नहीं रहा, अपितु सदैव एक साधन के रूप में निरूपित किया गया। जिसका मूल मंत्र था— "शतहस्तः समाहर, सहस्र हस्तः विकीर्ण" अर्थात् सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और सहस्र हाथों से बांट दो। यह त्यागमयी विचारधारा वेदों व उपनिषदों से लेकर संतों की वाणी तथा गाँधी जी तक बारम्बार दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणार्थ, ईशावास्योपनिषद् का लोकविश्रुत अनासक्तिपरक मंत्र प्राचीन भारत के आर्थिक विचारों का यथार्थ प्रतिपादन करता है। जिसमें ऋषि ने सम्पत्ति के वैयक्तिक स्वामित्व का निरसन कर ईश्वरीय सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार प्रतिपादित किया है।^४ किन्तु यह त्याग या अनासक्ति वृत्ति दया या कृपा की द्योतक नहीं है, अपितु सामाजिक दायित्व के बोध की परिचायक है।

ज्ञातव्य है कि समय-समय पर मनुष्य के आर्थिक प्रयोजन उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप घटते-बढ़ते और कभी-कभी परिवर्तित भी होते रहे हैं, किन्तु आर्थिक जीवन का मूल आधार कृषि और व्यापार-तद्वत् रहा है, उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। आज भी वैश्विक समाज इन्हीं दो आधारों पर टिका है। प्राचीन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि उस युग में कृषि का व्यवसाय ही प्रमुख उद्योग मना जाता था। उत्पादन में १/६ भाग प्रजा द्वारा राजा को दिया जाता था और यही राजा की आय का मुख्य स्रोत था। राजा को ही कृषि का संरक्षक माना जाता था। कृषि के अतिरिक्त व्यापार भी अत्यधिक प्रगतिशील एवं समृद्ध था, जिसमें, बाह्य एवं आन्तरिक दोनों व्यापार सम्मिलित थे।^५

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में आर्थिक विचारों का निरूपण धर्म, नीति, दर्शन, कानून राजनीति इत्यादि विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों के अन्तर्गत ही किया जाता था। जिसमें 'वर्ग-संघर्ष' को जन्म देने वाली बातों का समावेश नहीं है। इसका कारण है कि प्राचीन ग्रन्थकारों ने कल्याणकारी राज्य सम्बन्धी 'आर्थिक विचारधारा' पर विशेष बल दिया था। जैसा कि कौटिल्य के चिंतन से उद्घाटित होता है कि राजा को प्रजा के लिए निष्काम भाव से कार्य करना चाहिए, राजा सभी का संरक्षक है। प्रत्येक व्यक्ति को पुत्र के समान समझना चाहिए। समाज में शोषण करने वाले व्यक्ति को कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। साथ ही आर्थिक असमानता को दूर करने के लिए सतत् महत्त्वपूर्ण प्रयास करना चाहिए।^६ अतः प्राचीन आर्थिक विचार दैनिक जीवन की समस्याओं के समाधान के साथ ही नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं की पूर्ति भी करते थे जिससे भारत 'सोने की चिड़िया' के रूप में लोकविश्रुत हुआ।

प्राचीन भारत की आर्थिक समृद्धि ही वेदेतर श्रमण परम्परा के जैन सम्प्रदाय को प्रतिपादित करने का वास्तविक आधार बनी। जिसने तप, त्याग, संयम इत्यादि आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों पर आधारित प्राणी परिवार समाज राष्ट्र के विकास और सम्बर्द्धन हेतु नूतन अर्थशास्त्र की संकल्पना को श्रमणोपासकों को अपनाने पर बल दिया।

जैन पौराणिक परम्परा के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने 'स्वश्रम' से समुचित उत्पादन करने की प्रेरणा देकर अपने पुत्र भरत चक्रवर्ती के लिए अर्थ-सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन किया था। किन्तु जब संचय अधिक होने लगा, तो अंतिम तीर्थंकर महावीर ने 'अपरिग्रह' के सिद्धान्त द्वारा सम्पन्न वर्ग को अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति को लोक-कल्याण के लिए विसर्जित करने की प्रेरणा देकर 'समवितरण' के सिद्धान्त का श्रीगणेश किया।^७

वस्तुतः प्राचीन भारतीय ग्रन्थों की भाँति जैन आगमों में भी स्वतन्त्र विषय के रूप में अर्थशास्त्र निरूपित नहीं मिलता। प्रायः ग्रन्थकार धार्मिक और श्रमण-आचार सम्बन्धी विषयों का विश्लेषण करते हुए प्रसंगवशात् कतिपय आर्थिक विचारों का भी उल्लेख कर देते हैं। जैन आगम-साहित्य ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक स्वरूप लेता रहा है।

जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णि में धनोपार्जन की प्रक्रिया को 'उद्दुप्पत्ति' अर्थात् अर्थप्राप्ति कहा गया है। प्रश्नव्याकरण और वृहत्कल्पभाष्य में निरूपित है कि आजीविका अर्जन के लिए गृहस्थ 'अत्थसत्थ' का अध्ययन करते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान दशवैकालिक चूर्णि में भी अर्थोपार्जन के विविध प्रकारों (वार्ता-कृषि, पशुपालन, वाणिज्य) का उल्लेख मिलता है। सोमदेवसूरि ने बतलाया है कि अर्थ से सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं।

प्राचीन परम्परा के समान जैन आगम भी बतलाते हैं कि पृथ्वी का स्वामी राजा था। राज्य में राजकीय सम्पदा के अतिरिक्त वैयक्तिक सम्पदा भी होती थी। उपासकदशांग के अनुसार आनन्द गाथापति ५०० हल का स्वामी था। आचारांग से ज्ञात होता है कि 'चारागाह' पर सामूहिक स्वामित्व था। इससे स्पष्ट है कि भूमि पर राज्य, व्यक्ति और सामूहिक तीनों ही तरह का स्वामित्व प्रचलित था। जैन आगम दशवैकालिक में वर्णित है कि सम्पत्ति के अर्जन, उपभोग, संरक्षण हेतु श्रमण उपासक स्वतन्त्र थे। सोमदेवसूरि के अनुसार हिंसा और शोषण रहित 'स्वश्रम' पर आधारित कृषि, पशुपालन, वाणिज्य (कुटीर और लघु उद्योग) के अतिरिक्त चक्रवर्ती राजाओं द्वारा अपनी सुख-सुविधा हेतु नवनिधियों को लगाने का भी वर्णन मिलता है। डॉ. नेमिचन्द्र जैन ने इन निधियों की तुलना आधुनिक उद्योगशालाओं से की है।^६ जैन ग्रन्थ वृहत्कल्पभाष्य में वर्णित है कि 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' के व्यापारी परस्पर वस्तुओं का आदान-प्रदान करते थे। 'ज्ञाताधर्मकथांग' के अनुसार भारत विदेशों में वस्तुओं का निर्यात करता था।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि जैन आगमों की रचना काल में उद्योग-धन्धे विकसित थे। कृषि और उद्योग में अपेक्षित समन्वय विद्यमान था। वृहत्कल्पभाष्य के अनुसार राज्य भूमि की उपज का १/६ से १/१० अंश भाग के रूप में ग्रहण करता था। वस्तुतः जैन ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आगमों की रचनाकाल के समय आर्थिक स्वतन्त्रता थी। श्रमणोपासक व्यापारी न्याय और नीतिपूर्वक यथेच्छ धन अर्जित कर सकता था तथा राज्य की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं था। लेकिन अंतिम तीर्थंकर महावीर के अनुसार

अधिक धन संचय असमानता उत्पन्न करता है; क्योंकि एक का संचय दूसरे का अभाव बन जाता है। अतः उन्होंने 'अपरिग्रही' समाज की नींव डाली। जिससे सम्पत्तियों के 'अपरिग्रह' और 'दान' की भावना से निर्धनों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती थी और समाज में आर्थिक समानता के आदर्श की स्थापना होती थी।

निष्कर्षतः प्राचीन भारत के आर्थिक विचार के जैन आगमों के संदर्भ में विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राचीन ग्रन्थकारों के आर्थिक आदर्श- शतहस्तः समाहर, सहस्रहस्तः विकीर्णः' एवं 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' केवल सैद्धान्तिक रूप में अभिव्यक्त होते थे, और व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में पूर्ण आर्थिक समानता का अभाव प्राप्त था। जबकि जैन आगमों के रचनाकाल के समय श्रमण उपासक 'अस्तेय' और 'अपरिग्रह' (आर्थिक सम-वितरण) के नूतन अर्थशास्त्र की संकल्पना को व्यवहार में अपनाकर वर्ग-संघर्ष-मुक्त एक आदर्श समाज की नींव रखे जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र के विकास और सम्वर्धन का आधार बना। विनोबा भावे ने 'भूदान आन्दोलन' के माध्यम से सीमित ही सही, परन्तु सम्पदा के विषय में यह प्रमाणित कर दिया कि जैनों का 'अपरिग्रह' (आर्थिक सम-वितरण) सिद्धान्त व्यावहारिक जीवन मूल्यों का द्योतक है जिसको आत्मसात करने की वैश्विक दुनियाँ को आज महती आवश्यकता है।^९

संदर्भ

१. जैन, जगदीशचन्द्र, **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज**, आर्थिक-स्थिति, पृ. ११९।
२. **प्राचीन जैन साहित्य में आर्थिक जीवन**, डॉ. कमल जैन, प्रकाशकीय, पृ. ३।
३. मिश्र, जयशंकर, **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास**, पृ. ४८४-८५, प्रकाशन-बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७४।
४. **ईशावास्योपनिषद्**, १।
५. सिन्हा एवं सिंघई, **आर्थिक विचारों का इतिहास**, पृ. २०६; प्रकाशक- मयूर पेपर बैक्स, तेरहवाँ संस्करण : २००१।
६. पंत व सेठ, **आर्थिक विचारों का इतिहास**, पृ. ४३३-३४, प्रकाशक, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, प्रथम संस्करण-१९८२।
७. 'असंविभागी णहु तस्य मोक्खो'- **दशवैकालिक** ९/२३।
८. जैन, नेमिचन्द्र, **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा**, पृ. ५२।
९. **योजना**, अप्रैल ०१, २००१ में प्रकाशित जी. एल. पुणताम्बेकर का लेख- अहिंसा और के अर्थशास्त्र की प्रतिष्ठा।



जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में सांख्य का विकासवाद

डॉ० सत्यदेव मिश्र*

सांख्य दर्शन का विकासवाद सृष्टि के उद्भव और विकास का सिद्धान्त है। सांख्य के विकासवाद की पृष्ठभूमि में इसका सत्कार्यवाद का सिद्धान्त निहित है, जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने उपादान कारण में अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है। सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति है। सांख्य के अनुसार यह सृष्टि-रूप कार्य जगत् भावात्मक तथा सद्व्युप है, अतः इसका मूल उपादान कारण भी भावरूप तथा सद्व्युप ही होना चाहिए। सत्कार्यवाद के अनुसार अभाव से भाव एवं भाव से अभाव के परिणाम की कल्पना नहीं की जा सकती।^१ इसलिए जगद्रूप भाव कार्य का कारण भावात्मक प्रकृति ही है। प्रकृति से होने वाली परिणाम-रूप यह सृष्टि तुच्छ या मिथ्या नहीं, अपितु सत्य तथा वास्तविक है।^२ प्रकृति का यह सृष्टि-प्रवाह निरन्तर गतिशील नदी के सदृश है और अनादि काल से चला आ रहा है तथा अनन्त काल तक चलता रहेगा। सत्कार्यवाद सांख्य दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त है और इसी के आधार पर वह अपने महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रकृतिपरिणामवाद की स्थापना करता है। सांख्य के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व प्रकृति के अन्दर अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है। सृष्टि कोई नवीन उत्पत्ति नहीं है तथा प्रलय सृष्टि का विनाश नहीं है। प्रकृति में जो अव्यक्त है उसी का व्यक्त होना सृष्टि है। इसी प्रकार प्रलय सांसारिक पदार्थों का तिरोहित होना है अर्थात् सर्ग कार्य-समूह का आविर्भाव और प्रलय उसका तिरोभाव मात्र है। सृष्टि प्रकृति का विकार या परिणाम है। सांख्य दर्शन का यह सिद्धान्त प्रकृतिपरिणामवाद कहलाता है। सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है।^३ गुणों की साम्यावस्था में सत्त्व सत्त्व में रजस् रजस् में, और तमस् तमस् में खिंचकर अवस्थित हो जाते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति निरन्तर परिणामनशील है, उसमें रजोगुण के रूप में

* जेनरल फेलो, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, दर्शन एवं धर्म विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

क्रियाशीलता सदैव विद्यमान रहती है; क्योंकि यदि प्रकृति की गति एक बार भी अवरुद्ध हो जाय तो उसका पुनः प्रारम्भ होना सम्भव नहीं है। प्रकृति में दो प्रकार का परिणाम होता है— सरूप परिणाम एवं विरूप परिणाम। प्रलयकाल में प्रकृति के तीनों गुण स्वयं में परिवर्तित होते रहते हैं, इसे सरूप परिणाम कहते हैं। विरूप परिणाम का प्रारम्भ गुणों की साम्यावस्था भंग होने पर होता है, जिससे उद्विकास जन्म पाता है। फलतः प्रकृति से महत्, महत् से अहङ्कार, अहङ्कार से मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति से प्रथमतः महत् या बुद्धि तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। विश्व सृष्टि में महत्त्वपूर्ण भूमिका होने के कारण तथा धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि उत्कृष्ट गुणों का अधिष्ठान होने के कारण इसे महत् कहा जाता है। महत् का कार्य अध्यवसाय या निश्चय करना है, जो बुद्धि का लक्षण है, इसी कारण इस तत्त्व का दूसरा नाम बुद्धि है। महत् तत्त्व में यद्यपि तीनों गुण विद्यमान रहते हैं, किन्तु सत्त्व गुण की अधिकता के कारण इसे सत्त्व प्रधान कहते हैं। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—ये चार बुद्धि के सात्त्विक रूप हैं; अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य— ये चार बुद्धि के तामस् रूप हैं।^५ महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है जो प्रकृति का दूसरा विकार है। अहङ्कार के सात्त्विक, राजस् एवं तामस् त्रिविध भेद हैं। सात्त्विक अहङ्कार से एकादश इन्द्रियों (मन, पञ्चज्ञानेन्द्रिय एवं पञ्चकर्मेन्द्रिय) की उत्पत्ति होती है। तामस् अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।^६ राजस् अहङ्कार से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती, यह सात्त्विक तथा तामस् अहङ्कारों को शक्ति प्रदान करता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के भेद से ये तन्मात्र पाँच प्रकार के होते हैं। इन पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत हैं। गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्द ये, इन पञ्चमहाभूतों के विशिष्ट गुण हैं, इन गुणों की भी उत्पत्ति पञ्चतन्मात्राओं से ही होती है। शान्त, घोर एवं मूढ़ धर्मों से युक्त होने के कारण ये पञ्चमहाभूत कहलाते हैं।^७ बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्चकर्मेन्द्रियाँ इन तेरह तत्त्वों को सांख्य दर्शन में त्रयोदशकरण कहा गया है। जिनमें बुद्धि, अहङ्कार एवं मन, अन्तःकरण तथा पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और पञ्चकर्मेन्द्रियाँ दस बाह्यकरण नाम से जाने जाते हैं।^८ बाह्यकरण किसी गृह के द्वार सदृश हैं जिनके माध्यम से बाह्य विषयों की सूचना अन्तःकरण में पहुँचती है और अन्तःकरण गृह के समान हैं जिनमें सभी सूचनाएँ आकर एकत्र होती

हैं। इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति में इन तेरह तत्त्वों का सहयोग होता है, इसलिए इन्हें 'करण' अर्थात् 'साधन' कहा गया है। सांख्य दर्शन में सामान्यतः त्रयोदश करणों और पञ्चतन्मात्राओं इन अठारह तत्त्वों के समूह को सूक्ष्म शरीर कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति द्वारा प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार का आवरण तैयार होता है, जिसे सूक्ष्म शरीर अथवा लिङ्ग कहते हैं। सूक्ष्म शरीर के भोगसम्पादनार्थ स्थूल शरीर की रचना होती है। स्थूल शरीर का निर्माण स्थूल भूत तत्त्वों से होता है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन में प्रकृति से महाभूतों की उत्पत्ति तक सृष्टि के दो रूप दिखायी देते हैं— प्रत्यय सर्ग या बुद्धि सर्ग और तन्मात्र सर्ग या भौतिक सर्ग। प्रत्यय सर्ग में बुद्धि, अहङ्कार और एकादश इन्द्रियों का आविर्भाव होता है। भौतिक सर्ग में पञ्चतन्मात्राओं और पञ्चमहाभूतों का विकास सम्मिलित है। सर्वप्रथम प्रत्यय सर्ग की सृष्टि होती है, तत्पश्चात् भौतिक सर्ग की उत्पत्ति होती है। बुद्धि सर्ग के विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि— ये चार भेद हैं।^५ जिनमें विपर्यय के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश पाँच प्रकार हैं। अशक्तियाँ अट्ठाइस प्रकार की हैं, जिसके अन्तर्गत ग्यारह इन्द्रिय वध तथा सत्रह बुद्धि वध सम्मिलित हैं। प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य पार, सुपार, पारापार, अनुत्तमाम्भ एवं उत्तमाम्भ ये नौ तुष्टियाँ हैं तथा ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःख विनाश, सुहृत्प्राप्ति एवं दान भेद से आठ प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं। भौतिक सर्ग के अन्तर्गत सांख्य ने आठ प्रकार की देवसृष्टि, पाँच प्रकार की तिर्यक् सृष्टि एवं एक प्रकार की मानवी सृष्टि को सम्मिलित कर, उसे चौदह प्रकार का बताया है। इस प्रकार सांख्य दर्शन में विश्व-व्याख्या की विस्तृत विवेचना की गयी है। सांख्य का सृष्टि-क्रम सूक्ष्म से स्थूल की ओर माना गया है। सर्वप्रथम बुद्धि की उत्पत्ति होती है, जो सबसे सूक्ष्म है और अन्त में पञ्चमहाभूतों का विकास होता है, जो इस क्रम से सबसे स्थूल है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्वों की गणना की गयी है। इसमें प्रकृति और उसके तेईस विकारों तथा पुरुष का समावेश है। ये पच्चीस तत्त्व ही सांख्य-शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं, जिनका विभाजन त्रिविध रूपों में किया जाता है— व्यक्त, अव्यक्त तथा ज्ञ। महत् तत्त्व से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त सभी 'व्यक्त' हैं। 'अव्यक्त' को मूल प्रकृति या प्रधान कहते हैं। 'ज्ञ' चेतन है, इसे ही पुरुष कहते हैं। इसमें मूल प्रकृति केवल कारण है, कार्य नहीं। महत् अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राएँ, ये सात तत्त्व कारण कार्य दोनों हैं। मनस्,

पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ, ये सोलह तत्त्व केवल कार्य हैं। पुरुष कार्यकारणभाव से परे है। वह न कारण है और न कार्य।^९ पुरुष प्रकृति से सर्वथा विपरीत और स्वतंत्र है तथा इस सृष्टि व्यापार से अलिप्त है। वस्तुतः सांख्य दर्शन द्वैतवादी है। जिसके अनुसार प्रकृति और पुरुष दो ही मूल तत्त्व हैं। जो अनादि, नित्य, शाश्वत तथा विभु हैं। ये दोनों तत्त्व प्रलयावस्था में भी विद्यमान रहते हैं। इनमें प्रकृति अचेतन तथा पुरुष चेतन है। पुरुष के संयोग से ही परिणामिनी प्रकृति से समस्त सृष्टि (व्यक्त) का आविर्भाव होता है और ये सर्ग एवं प्रलय चक्रवत् चलते रहते हैं।

सांख्य के इस प्रयोजनात्मक विकासवाद का उद्देश्य है- पुरुष को भोग तथा कैवल्य प्रदान करना। प्रकृति-पुरुष के भेदरूप ज्ञान के अभाव में अविद्या या अज्ञान के कारण पुरुष नाना प्रकार की योनियों को धारण करके अनेक प्रकार के लोकों में शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ एवं तदनुसार फलों का उपभोग करता हुआ संसरण करता रहता है। प्रकृति-पुरुष के भेद अर्थात् सत्त्वपुरुषान्यताख्याति का ग्रहण होने से पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है और इस प्रकार विकास का प्रयोजन पूर्ण होता है।

आइये देखें सांख्य के इस विकासवाद पर जैन दर्शन की क्या प्रतिक्रिया है।

सांख्य के विकासवादी दृष्टिकोण को दोषपूर्ण बताते हुए जैन दार्शनिक सांख्य मत का खण्डन^{१०} करते हैं। उस पर आक्षेप उठाते हुए वे ~~कहते हैं~~ कि सांख्यों का चेतनशक्ति को ज्ञान से शून्य मानना परस्पर विरुद्ध है।^{११} यदि चेतनशक्ति 'स्व' और 'पर' का ज्ञान कराने में असमर्थ है, तो उसे चेतन शक्ति नहीं कहा जा सकता तथा अमूर्त चेतनशक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि मूर्त पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। चेतनशक्ति को परिणामनशील और कर्ता माने बिना चेतनशक्ति का बुद्धि में परिवर्तन होना भी सम्भव नहीं है। पूर्व रूप के त्याग और उत्तर रूप के ग्रहण किये बिना पुरुष सुख-दुःख का भोक्ता नहीं कहला सकता। इस पूर्वाकार के त्याग और उत्तराकार का ग्रहण मानने से पुरुष को निष्क्रिय नहीं कह सकते। इससे सक्रियत्व की सिद्धि होती है। तथा सांख्यों का यह कहना कि प्रतिसंक्रमशून्य पुरुष में होनेवाला प्रतिसंक्रम (प्रतिबिम्बित होना) औपचारिक ही है, उचित और मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि तत्त्वों का निर्णय करने में उपचार अनुपयोगी होता है। ऐसी अवस्था में, अर्थात् परिणामी पदार्थ का प्रतिसंक्रम औपचारिक होने से प्रत्येक आत्मा में पाया जाने वाला सुख-दुःख का अनुभव निराधार होना चाहिए, क्योंकि

वास्तव में सुख-दुःख का आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं है। यदि कहा जाय कि सुख-दुःख का ज्ञान बुद्धिजन्य है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि सांख्यमत में बुद्धि जड़ मानी गयी है।

सुख, दुःख आदि का अनुभव करने वाली होने पर बुद्धि को जड़ मानना भी विरुद्ध है।^{१२} क्योंकि यदि बुद्धि को जड़ माना जाय तो बुद्धि से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता और यह कहना कि बुद्धि अचेतन होकर भी चेतनशक्ति के सम्बन्ध से चेतनायुक्त जैसी प्रतिभासित होती है, अयुक्तियुक्त है। चैतन्ययुक्त पुरुष आदि के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से दर्पण की चैतन्यस्वरूप से परिणति नहीं होती। चेतना और अचेतना का स्वभाव अपरिवर्तनीय है, उसमें किसी के द्वारा भी परिवर्तन नहीं हो सकता। तथा 'अचेतन बुद्धि चेतना सहित जैसी प्रतिभासित होती है,' यहाँ 'इव' (जैसी) 'शब्द से अचेतन बुद्धि में चेतना का आरोप किया गया है। परन्तु आरोप से अर्थक्रिया की सिद्धि नहीं होती, जैसे यदि किसी बालक का अत्यन्त क्रोधी स्वभाव देखकर उसका अग्नि नाम रख दिया जाय, परन्तु वह अग्नि की जलाने, पकाने आदि क्रियाओं को नहीं कर सकता। इसी प्रकार विषयों का ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान चेतनाशक्ति से ही हो सकता है, अचेतन बुद्धि में चेतना का आरोप करने पर भी बुद्धि से पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं। इसलिए जो बुद्धि के धर्म आदि आठ गुण बताये गये हैं, वे भी केवल वचनमात्र हैं, क्योंकि धर्म आदि आत्मा के ही गुण हो सकते हैं, अचेतन बुद्धि के नहीं। इसीलिए अहङ्कार को भी बुद्धिजन्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अहङ्कार अभिमान रूप है, इसलिए वह आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अचेतन बुद्धि से उत्पन्न नहीं हो सकता है।^{१३}

आकाश आदि का शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होना अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है।^{१४} प्रायः सभी दार्शनिकों ने आकाश को नित्य स्वीकार किया है; नित्य एकान्तवाद (सत्कार्यवाद) को मानकर भी केवल सांख्य के अनुयायी ही उसकी शब्द तन्मात्रा से उत्पत्ति मानकर असंगत प्रलाप करते हैं। तथा, जो परिणामी (उपादान) वस्तु के परिणाम में कारण है, वह अपने कार्य का गुण नहीं हो सकता, इसलिए "शब्द को आकाश का गुण मानना" भी कथन मात्र है। इसी प्रकार तब वाक् आदि इन्द्रियाँ नहीं कही जा सकतीं^{१५}, क्योंकि दूसरों का प्रतिपादन करना, किसी वस्तु को ग्रहण करना, विहार करना, मल त्याग करना आदि, वाक्, पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेन्द्रियों से होने वाले कार्य शरीर, के अन्य अवयवों से भी किये जा सकते हैं; जैसे- उंगलियों द्वारा भी दूसरों को प्रतिपादित किया जा सकता है। अतएव वाक् आदि शरीर के अवयव हैं,

इन्हें इन्द्रियाँ नहीं कह सकते। यदि इतर अवयवों द्वारा न किये जाने वाले कार्यों के कर्तृत्व का अभाव होने पर भी वाक् आदि को इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियों की ग्यारह संख्या ही नहीं बन सकती, क्योंकि शरीर के अन्य अंग-उपांगों के भी इन्द्रियत्व का प्रसंग उपस्थित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त सांख्य दार्शनिकों की यह मान्यता कि अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति के ही संसार, बन्ध, और मोक्ष होते हैं, पुरुष के नहीं; सर्वथा अनुचित है।^{१६} क्योंकि सांख्यवादियों के मत में यदि अनादि भव-परम्परा से बद्ध पुरुष के विवेक को न समझने वाले अपृथग्भाव को बन्ध नहीं कहते, तो फिर सांख्य मत में बन्ध का क्या लक्षण है? यदि यह कहा जाय कि उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थों का कारण प्रकृति है तो सांख्यवादियों ने नामान्तर से कर्म को ही स्वीकार किया है; क्योंकि कर्म का यह स्वरूप है और वह अचेतन है। अतएव बन्ध पुरुष के ही मानना चाहिए, प्रकृति के नहीं।

जैन दर्शन के अनुसार सांख्य सम्मत प्राकृतिक, वैकारिक और दाक्षिण तीनों प्रकार का बन्ध मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में गर्भित हो जाता है, अतएव उसे पृथक् स्वीकार करना ठीक नहीं। अतएव जीव के बन्ध सिद्ध होने पर, जीव के ही संसार की भी सिद्धि होती है तथा, जो बंधता है, वह कभी मुक्त भी होता है, अतएव बन्ध और मोक्ष का एक ही अधिकरण होने से पुरुष के ही मोक्ष की सिद्धि होती है। इसलिए 'पुरुष का न 'बन्ध' होता है, न 'मोक्ष' यह कहना अयुक्तियुक्त है। इसके अतिरिक्त सांख्यों का यह कहना कि जिस समय प्रकृति और पुरुष में विवेकख्याति उत्पन्न होती है, प्रकृति प्रवृत्ति से मुँह मोड़ लेती है, उस समय पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, इसे ही मोक्ष कहते हैं यह भी उचित नहीं है; क्योंकि प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति करना ही है, अतएव वह प्रकृति प्रवृत्ति से उदासीन नहीं हो सकती।

जैनदर्शन का आक्षेप है कि सांख्य की प्रकृति अचेतन है, अतएव वह विचारपूर्वक प्रवृत्ति नहीं कर सकती तथा जिस प्रकार विषय का एक बार उपभोग करने पर भी फिर से उसी विषय के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति होती है (क्योंकि प्रकृति प्रवृत्तशील है), वैसे ही विवेकख्याति होने पर भी फिर से पुरुष में प्रकृति की प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति का स्वभाव प्रवृत्ति करने का है। इस सन्दर्भ में उनका नटी का दृष्टांत उलटा सांख्य के सिद्धान्त का घातक है।^{१७} क्योंकि दर्शकों को एक बार नृत्य दिखाकर चले जाने पर भी अच्छा नृत्य होने से दर्शकों के आग्रह से नर्तकी फिर से अपना नाच दिखाने लगती है, वैसे, ही पुरुष को अपना

२६ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

स्वरूप दिखाकर प्रकृति के निवृत्त हो जाने पर भी प्रकृति को फिर से प्रवृत्ति करना चाहिए। अतएव सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर पुरुष को ही मोक्ष होता है, यह मानना चाहिए।

इस प्रकार सांख्य के अनेक दोषों को उजाग्रित करते हुए जैन दार्शनिक सांख्य-विकासवाद को असिद्ध बताते हैं।

सन्दर्भ

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ गीता, २/१६.
२. सांख्यप्रवचनभाष्य, २/६.
३. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। सांख्यसूत्र, १/६१.
४. सांख्यकारिका, २३; तर्करहस्यदीपिका, १२.
५. सांख्यकारिका, २४-२५.
६. सांख्यकारिका, ३८.
७. सांख्यकारिका, ३२-३३.
८. सांख्यकारिका, ४६.
९. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्ता।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ सांख्यकारिका, ३.
१०. चिदर्शशून्या च जडा च बुद्धिः शब्दादितन्मात्रजमम्बरादि।
न बन्धमोक्षौ पुरुषस्य चेति कियज्जडैर्न ग्रथितं विरोधि॥
अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकास्तवनटीका, श्लोक १५,
११. “चिच्छक्तिश्च विषयपरिच्छेदशून्या चेति परस्परविरुद्धं वचः।” स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ ९८.
१२. “जडा च बुद्धिः इत्यपि विरुद्धम्।” स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठी ९८.
१३. “अतएव चाहंकारोऽपि न बुद्धिजन्यो युज्यते, तस्याभिमानात्मकत्वेनात्म-
धर्मस्याचेतनादुत्पादायोगात्।” स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ ९९.
१४. “अम्बरादीनां च शब्दादितन्मात्रजत्वं प्रतीतिपराहतत्वेनैव विहितोत्तरम्”।
स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ ९९.
१५. “वागादीनां चेन्द्रियत्वमेव न युज्यते।” स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ ९९.
१६. “यच्चोक्तं ‘नानाश्रयायाः प्रकृतेरेव बन्धमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य’ इति। तदप्यसारम्”।
स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ ९९.
१७. “नर्तकीदृष्टान्तस्तु स्वेष्टाविधातकारी।” स्याद्वादमञ्जरी, पृष्ठ १००.



बौद्ध भिक्षु संघ का विकास और नियम

डा० कमलेश दूबे*

महात्मा बुद्ध का जन्म गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के राज परिवार में हुआ था। इसी गणतन्त्रात्मक आधार पर उन्होंने अपने भिक्षु संगठन का नाम “संघ” रखा था। वास्तव में उनका बौद्ध संघ एक धार्मिक गणतंत्र था। तथागत ने सर्वप्रथम वाराणसी में ऋषिपत्तन मृगदाव में धर्म का उपदेश दिया जिसे ‘धम्मचक्कपवत्तन सुत्त’ कहते हैं। विनयपिटक के महावग्ग से ज्ञात होता है कि सारनाथ में तथागत की धर्मदेशना सुन कर सबसे पहले कौडिन्य नाम के पंचवर्गीय भिक्षु ने विमल ‘धर्मचक्षु’ प्राप्त कर उनके निकट प्रव्रज्या ली। इसके अनन्तर वप्र (बप्प), भद्रिक (भदीय), महानाम और अश्वजित नाम के अन्य पंचवर्गीय भिक्षुओं ने भी धर्मचक्षु और प्रव्रज्या का लाभ लिया तथा इस प्रकार आर्य भिक्षु संघ की स्थापना हुई।^१ वाराणसी के श्रेष्ठिपुत्र यश और उसके मित्र विमल सुबाहु, पूर्णजित और गवाम्यात तथा अन्य पचास मित्रों के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर संघ में साठ भिक्षु हो गये। इनको भगवान बुद्ध ने नाना दिशाओं में जाकर प्रव्रज्या और उपसम्पदा देने की अनुमति प्रदान की। वाराणसी से गया जाते हुए तथागत ने तीस भद्रवर्गीय मित्रों को शासन में प्रतिष्ठित किया और १००० जटिलों को संघ में आकृष्ट किया। राजगृह में मगधराज बिम्बिसार ने उनकी शरण ली और वेणुवन उद्यान भिक्षु संघ को दिया। राजगृह में ही संजय-परिव्राजक के १५० शिष्यों ने संघ में प्रवेश किया और इस प्रकार स्पष्ट हांता है कि संघ की बहुत शीघ्र ही वृद्धि हुई और प्रचार हुआ।

इन प्रमाणों से कोई संशय नहीं रहता कि बुद्ध के समय के बहुत पूर्व बहुसंख्यक संन्यासी किसी प्रकार के संगठन के अन्तर्गत मिलकर एक साथ रहा करते थे। उनका संगठन निश्चित नियमों और उपनियमों द्वारा प्रेरित था।^२

किसी भी प्रकार के वर्गभेद अथवा जातिभेद के बिना बौद्ध संघ की

* प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी.जी. कालोज, वाराणसी।

सदस्यता सबके लिये खुली हुयी थी। समाज के निम्नतम वर्ग को भी इसके सदस्य होने का अधिकार था। तथागत का द्वार सबके लिये सर्वदा खुला था। शास्ता के शासन और और संघ में कोई भेदभाव न था। भगवान ने कहा है— भिक्षुओं! जैसे स्वच्छ, मधुर, शीतल, जलवाली, रमणीय घाटों वाली पुष्करिणी पूरब दिशा से धूप में तपे तथा तृषित मनुष्य की पिपासा को दूर करती है, ताप को दूर करती है, वैसे ही पश्चिम दिशा उत्तर तथा दक्षिण दिशा में तपे तथा तृषित मनुष्य की पिपासा को शान्त करती है, ताप को दूर करती है। उसी प्रकार क्षत्रिय कुल का, ब्राह्मण कुल का, वैश्य कुल का व्यक्ति समान रूप से प्रव्रजित होता है, शान्ति प्राप्त करता है।^३ संघ पूर्णतः आध्यात्मिक संस्था थी। किन्तु इस सामान्य सिद्धान्त के कुछ अपवाद थे तथा निम्नलिखित वर्गों के व्यक्ति संघ की सदस्यता से वंचित थे।

१. कुष्ठ, गण्ठ, सूखा कोढ़ (किलास), शोष (क्षय), तथा अमस्मार (मिर्गी) इन पांच रोगों से ग्रस्त - (महावग्ग १, ३१)।
२. राजकीय सेवा में नियुक्त (वही १, ४०)।
३. उद्धोषित चोर (वही १, ४३)।
४. कशाघात अथवा चिन्ह के अंकन द्वारा दण्डित (महावग्ग १, ४४, ४५)।
५. ऋणी (वही १, ४६)।
६. दास (वही, १, ४७)।
७. पन्द्रह वर्ष से कम आयु का बालक।
८. विकृत शरीर वाला (महावग्ग १, १७)।

उपरिनिर्दिष्ट श्रेणियों में से किसी के अन्तर्गत न आने वाला व्यक्ति^४ प्रव्रज्या और उपसम्पदा नामक दीक्षाओं द्वारा बौद्ध संघ में दीक्षित किया जा सकता था। दीक्षित होने के लिए इच्छुक व्यक्ति बुद्ध के पास जाता और वे उसे कहते “आओ भिक्षु, धम्म अच्छी तरह व्याख्यात है, दुःखों के पूर्ण अन्त के लिये ब्रह्मचर्य का आचरण करो”^५। अपने पहले शिष्यों को भगवान् बुद्ध ने स्वयं ही प्रव्रज्या दी थी। परन्तु बाद में भिक्षुओं की संख्या बढ़ने लगी। अतः संघ की भी वृद्धि होने लगी। तथागत ने कुछ चुने हुये भिक्षुओं को प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा देने की अनुमति दी, जो व्यक्ति दीक्षा प्राप्त करना चाहता, उसको केश और दाढ़ी मुंडवा कर काषाय वस्त्र पहन कर, उत्तरासंग एक कन्धे में कर, बैठकर हाथ जोड़ कर तीन बार यह कहना पड़ता था— “बुद्ध शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि”^६।

पन्द्रह वर्ष से कम के व्यक्ति को प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती थी। शुद्धोदन शाक्य के अनुरोध से तथागत ने यह भी स्वीकार किया कि माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रज्या न दी जाये।

जो पहले किसी बौद्धेतर परिव्राजक गण के अनुगत थे उनके लिये आवश्यक था कि वे संघ में प्रवेश के अनन्तर चार महीने तक 'परिवास' (प्रोबेशन) व्यतीत करें। इस समय में उनके आचरण को परखा जाता था।

संघ के नियम

संघ के सभी नियमों का संकलन विनयपिटक में है। इन सभी नियमों का महत्त्व शील, समाधि और प्रज्ञा के लिये है। प्रस्तुत विनय के अनुसार प्रव्रज्या प्राप्त करने पर भिक्षु 'श्रामणे' कहा जाता था। उसे एक उपाध्याय और एक आचार्य चुनकर इनके 'निश्रय' में रहना पड़ता था। श्रामणे के लिये उपाध्याय की विविध सेवा विहित थी। वस्तुतः इनका सम्बन्ध बहुत कुछ वैदिक परम्परा में गुरु और शिष्य के जैसे था। आचार्य और उपाध्याय के कर्तव्यों में भेद करना कठिन है। कदाचित् आचार्य उपाध्याय की अनुपस्थिति में उसका स्थान ग्रहण करता था।^{१०} कम से कम बीस वर्षों की अवस्था होने पर और उचित योग्यता प्राप्त करने पर श्रामणे उपसम्पदा का अधिकारी होता था।

शिक्षापद

श्रामणे के लिये दस शिक्षापद थे। ये शिक्षापद ही श्रामणे के लिये आचार मार्ग थे।

क्र० सं०	शिक्षा	निषेध
१.	अहिंसा	हिंसा
२.	अचौर्य	चोरी
३.	इन्द्रिय निग्रह	अइन्द्रिय निग्रह
४.	अमृषा वचन	मृषा वचन
५.	मद्य त्याग	मद्य ग्रहण
६.	मध्याह्न के बाद भोजन निषेध	मध्याह्न के बाद भोजन
७.	नृत्य, वाद्य आदि का त्याग	नृत्य, वाद्य ग्रहण
८.	गन्ध, माल्य, विलेपन निषेध	गन्ध, माल्य, विलेपन
९.	ऊँची और बहुमूल्य शय्या त्याग	ऊँची और बहुमूल्य शय्या
१०.	स्वर्ण, रजत आदि अग्रहण	स्वर्ण, रजत ग्रहण

इन दस शिक्षापदों से श्रामणेरों का शील परिभाषित होता है।

चार निश्रय

विनय में चार निश्रयों का विवरण इस प्रकार मिलता है— (१) भिक्षा में मिला हुआ भोज्य पदार्थ (२) पड़े चिथड़ों का बनाया हुआ चीवर (३) वृक्ष के नीचे निवास (४) गोमूत्र से निर्मित औषधि का सेवन। इन चार नियमों के साथ चार अतिरेक लाभ भी बताये गये हैं।^८ प्रथम निश्रय के साथ अतिरेक लाभ रूप में संघभोज निमन्त्रण का भोज अनुमत था। दूसरे नियम का अतिरेक कम्बल, कार्पास, कौशेय, क्षौम, सन आदि वस्त्रों को धारण करना था। वृक्ष-मूल घर के अतिरिक्त विहार, प्रासाद, हर्म, गुहा आदि में वास है। औषध में अतिरेक लाभ के रूप में घी, मक्खन, तेल, मधु और खांड का प्रयोग भी किया जा सकता था।

उपोसथ

किसी निश्चित तिथि तथा समय पर एकत्र होकर धर्मोपदेश करना तथा सुनना ही उपोसथ कहलाता है। भिक्षु संघ के लिये यह आवश्यक था कि सभी भिक्षु चतुर्दशी, पूर्णमासी या पक्ष की अष्टमी के दिन एक स्थान पर एकत्र हों तथा धर्म और विनय का पाठ करें। इस प्रकार भिक्षु उपोसथ के दिन एकत्र होकर तथागत के द्वारा उद्दीष्ट प्रातिमोक्ष का पाठ करते थे तथा जिस भिक्षु को आपत्ति अथवा व्यतिक्रम होता है उसे यथाधर्म अनुशासित करते थे। इस प्रकार धर्म के द्वारा संघ का संचालन होता था।^९ वैदिक धर्म में भी दर्श और पूर्णमास की पाक्षिक इष्टियों का बहुत महत्त्व था। इनके लिये यज्ञ के पूर्व यजमान को दीक्षित होकर उपवास आदि विशेष नियमों से रहना पड़ता था और इस व्रत काल को उपवसथ कहा जाता था।^{१०} उपोसथ के अवसर पर तथागत की प्रमुख शिक्षायें संक्षेप में दुहराई जातीं और यही धर्मोपदेश का रूप था। इस अवसर पर भिक्षु के लिये आवश्यक था कि वह परिशुद्ध शील हो। जिनके शील में कोई कमी होती थी उन्हें उपोसथ में सम्मिलित होना निषिद्ध था। अपराधी भिक्षुओं पर भी इसी दिन विचार होता था। समग्र संघ की उपस्थिति में अपराधों की सूची पढ़ी जाती थी तथा धर्म विनय के नियमों की अवहेलना करने वाले भिक्षुओं को दण्डित किया जाता था।^{११}

प्रातिमोक्ष

भिक्षुओं के एकत्रित हो जाने पर एक विद्वान समर्थ भिक्षु सभा की

औपचारिक आज्ञा से प्रातिमोक्ष^{१२} का पाठ करता था।^{१३} पाठ करने वाले भिक्षु को अनेक ग्रन्थों में संघपिता, संघस्थविर, संघ परिणायक कहा गया है। प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षुओं के लिये शील पाँच या दस प्रकार के माने गये थे। आगे चलकर प्रातिमोक्ष सूत्रों में इनका विस्तार किया गया। प्रातिमोक्ष सूत्र भिक्षुओं की परिशुद्धि के लिये रचे गये। इसीलिये शील निर्वाह में कमी होने पर भिक्षुओं की परिशुद्धि आवश्यक थी। उपोसथ के साथ प्रातिमोक्ष का भी विधान है। प्रातिमोक्ष के आठ विभाग हैं—

१ पाराजिक	२ संघावशेष
३ अनियत	४ नैसर्गिक पातयन्तिक
५ पातयन्तिक	६ प्रतिदेशनीय
७ शौक्ष	८ अधिकरण शमथ

प्रातिमोक्ष का प्रारम्भ निदान से होता है जिसमें उपोसथ के लिये एकत्र भिक्षुओं को सूचित किया जाता है कि जिस भिक्षु से कोई दोष हुआ हो वह उसे प्रकट करे। प्रातिमोक्ष के प्रथम पाराजिक काण्ड में ऐसे चार पातकों का उल्लेख है जो भिक्षु को संघ में रहने के अयोग्य बना देते हैं— ब्रह्मचर्य, चोरी, मनुष्यवध एवं अलौकिक शक्ति का झूठा दावा।

संघावेश्य काण्ड में ऐसे तेरह अपराध परिगणित हैं जिनके लिये अपराधी को कुछ समय के लिये परिवास अथवा पृथक्करण का दण्ड दिया जाता है। किसी स्त्री के साथ एकान्त में बैठना जहाँ अनुचित संसर्ग अथवा सम्भाषण सम्भव है, और उस बात का किसी श्रद्धालु उपासिका का आलोच्य विषय बनना, ये अनियत धर्मों में संग्रहीत हैं। नैसर्गिक पातयन्तिक के अन्तर्गत तीस दोषों की चर्चा की गयी है।^{१४}

पातयन्तिक अथवा प्रायश्चित्तिक धर्मों की गणना में सम्प्रदाय भेद उपलब्ध होता है। पालि प्रातिमोक्ष में ९२ धर्मों का विवरण प्राप्त होता है। झूठ बोलना, चिढ़ाना, चुगली, स्त्री के साथ लेटना, चमत्कार की बातें करना, वृक्ष काटना, निन्दा करना आदि।

प्रतिदेशनीय धर्म चार हैं, इनके करने पर भिक्षु को दूसरे भिक्षुओं के सामने अपना अपराध स्वीकार करना होता है एवं भविष्य में वैसा न करने का वचन देना होता है। अज्ञातिक भिक्षुणी के हाथ खाद्य ग्रहण करना, भिक्षु भोजन के समय किसी भिक्षुणी को परोसने में सहायता करना, निर्धन और श्रद्धालु उपासकों

के घर भिक्षा ग्रहण करना, अप्रतिसंविदित भोजन को पहले ग्रहण करना, यही प्रतिदेशनीय धर्म है।

‘शैक्ष शिष्ट’ व्यवहार के नियमों का संग्रह है, जिन्हें भिक्षुओं को सीखना चाहिये तथा अधिकरण-शमथ में संघ के झगड़े मिटाने के तरीकों को बताया गया है।

भिक्षुणियाँ

भिक्षु संघों की भाँति भिक्षुणी संघों की भी स्थापना की गयी थी। संघ में स्त्रियों का प्रवेश बुद्ध को अभीष्ट न था। महाप्रजापति गौतमी ने संघ में प्रवेश की अनुमति मांगी थी, परन्तु महात्मा बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। बाद में आनन्द ने अनुमति के लिये भगवान बुद्ध से प्रार्थना की, अनुमति प्राप्त हुई और स्त्रियाँ भी भिक्षुणी बनकर संघ में जाने लगीं - गौतमी, उत्पल वर्णा, श्रृंगाल माता, खेमा, पटाचारा आदि अनेक स्त्रियों को संघ में लिया गया। तथागत ने अनुरोध स्वीकार किया परन्तु इसके साथ आठ शर्तें भी लगा दीं^{१५}—

१. भिक्षुणियाँ श्रमणों का आदर करेंगी।
२. अ-भिक्षु कुल में भिक्षुणियों का वर्षावास नहीं होगा।
३. प्रत्येक पखवारे भिक्षुणियाँ भिक्षु संघ में उपोसथ प्राप्त करेंगी।
४. वर्षावास के बाद भिक्षुणियाँ दोनों संघों में प्रवारणा करेंगी।
५. भिक्षुणियाँ दोनों संघों में पक्षमानता करेंगी।
६. दो वर्ष ६ माह में दोनों संघों से उपसम्पदा की प्रार्थना करनी होगी।
७. भिक्षुणी को आक्रोश परिभाषण नहीं करना होगा।
८. भिक्षुणियों के लिये भिक्षुओं को कुछ कहने का मार्ग निरुद्ध है।

भिक्षुणियों के लिये जज्ञप्त छह शिक्षापदों का निर्देश है जो उनके लिये वर्जित थे— हिंसा, चोरी, ब्रह्मचर्यहीनता, मृषावाद, मद्यपान और विकाल भोजन। इसके अतिरिक्त भी भिक्षुणियों के लिये अनेक नियम निर्दिष्ट थे।

वर्षावास

नदियों की बाढ़ और बरसात में यातायात अत्यन्त कठिन था। ऐसी स्थिति में तथागत ने अपने अनुयायियों के लिये वर्षावास का विधान किया। आषाढ़ी

पूर्णिमा अथवा श्रामणी पूर्णिमा के दूसरे दिन से तीन महीने तक उनके लिये यात्रा का निषेध था और उन्हें एक आवास में रहना पड़ता था।

वर्षावास के अन्त में संघ को सम्मिलित होकर अपने अपराध की आदेशना करना आवश्यक था। इसको 'प्रवारणा' कहा जाता है। यह एक प्रकार से वार्षिक परिशुद्धि है। वर्षान्त में ही उपासकों द्वारा भिक्षु संघ को दिये गये वस्त्रों से चीवर निर्माण कर भिक्षुओं को बाँटे जाते थे। इस प्रकार के चीवर को 'कठिन' कहा जाता है।

इसके अतिरिक्त विनय में अनुशासन के लिये अनेक विशिष्ट कर्मों का विधान पाया जाता है। यदि कोई भिक्षु कलहप्रिय या विवादशील हो अथवा गृहस्थों से अधिक सम्पर्क में आये तो उसके तर्जनीय कर्म विहित हैं। यदि कोई भिक्षु शील के विषय में उदासीन हो अथवा बुद्ध धर्म एवं संघ की निन्दा करता हो तो वह भी तर्जनीय कर्म से दण्डनीय है।

सम्पत्ति

सभी भिक्षु अपरिग्रह का व्रत लिये होते थे अतएव भिक्षा से प्राप्त सामग्री पर संघ का मुख्य अधिकार था, किन्तु इस अधिकार का अनियंत्रित प्रयोग नहीं किया जाता था। भिक्षु के मरने पर उसकी सम्पत्ति का संघ ही वितरण करता था। अन्न आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये संघ में विशेष भिक्षुओं को अधिकारी नियुक्त किया जाता था।

इस प्रकार संघ ने बौद्ध धर्म के विकास में अत्यधिक सहयोग प्रदान किया जिससे बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार सुदूर देशों में सम्भव हुआ। संघ की संगठन शक्ति व नियमों का ही प्रभाव था कि बौद्ध धर्म में नागार्जुन, अरुण, वसुबन्धु, आर्यदेव, अश्वघोष जैसे धुरन्धर विद्वान एवं दीपंकर, बोधिधर्म, श्री प्रवृत्ति धर्म प्रचारक उत्पन्न हुये, जिन्होंने बुद्ध की विचारधारा एवं उनके धर्म को अमरत्व प्रदान करने में कोई कसर न छोड़ी।

सन्दर्भ

१. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, **बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास**, पृष्ठ-१३३।
२. रमेश चन्द्र मज्जुमदार, **प्राचीन भारत में संघटित जीवन**, पृष्ठ-२७४।
३. चुल अस्सपुर सुत्त, **मज्झिम निकाय**, १/४/१०।
४. उन लोगों पर इन नियमों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा जो पहले बौद्ध धर्म में दीक्षित हो चुके थे।

३४ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

५. विनयपिटक, महावग्ग, पृष्ठ-१६।
६. वही, पृष्ठ-१२४।
७. सुकुमारदत्त, अर्ली बुद्धिस्ट मोनेशिज्म, जि०-१, पृष्ठ-२८४।
८. महावग्ग, १, ७७।
९. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृष्ठ-१४४।
१०. शतपथ ब्राह्मण (अच्युत ग्रन्थमाला), जि०-१, पृष्ठ-१।
११. बी०एन० सिंह, बौद्ध धर्म एवं दर्शन, पृष्ठ-१५३।
१२. प्रातिमोक्ख (विविध अपराधों और उनके समुचित दण्डों की वर्गीकृत सूची) का पाठ विस्तार से किया जाता था।
१३. महावग्ग, २, ३, ३,।
१४. गोविन्द्र चन्द्र पाण्डे, बौद्ध धर्म का विकास, पृष्ठ-१४८।
१५. जय शंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ-८४८।

*

जनमानस के मोती

स्वाति नक्षत्र था। वारिद जल-बिन्दु तेजी से चला आ रहा था।

वृक्ष की हरित नवल कोंपल ने रोकर पूछा- “प्रिय! किधर चले?”

“भद्रे! जलनिधि पर सूर्य की कोपदृष्टि हुई है, वह उसे सुखाए डाल रहा है। जलनिधि की सहायता करने जा रहा हूँ।”

“छोड़ो भी व्यर्थ की चिन्ता। खुद को मिटाकर भी कोई किसी की सहायता करता है? चार दिन की जिंदगी है, कर लो आनन्द भोग। कहाँ मिलेगी कोमल शय्या!”

जल-बिन्दु ने एक न सुनी। तेजी से लुढ़क पड़ा सागर की ओर। नीचे तैर रही थी सीपा। उसने जल-बिन्दु को आँचल में समेट लिया, वह जल-बिन्दु न रहकर हो गया “मोती”। सागर की लहरों से एक धीमी-सी ध्वनि निकली- “निज अस्तित्व की चिन्ता छोड़कर समाज के कल्याण के लिए जो अग्रसर होते हैं, वे बन जाते हैं जनमानस के मोती।”

वैदिक एवं श्रमण परम्परा में अहिंसा

डॉ० रीता अग्रवाल*

डॉ० अनीता अग्रवाल**

अहिंसा सभी धर्मों की, विशेषतः भारतीय धर्मों की प्राण है। यह प्रत्येक धर्म की आचार-संहिता में कहीं न कहीं अनुस्यूत है। पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक व आर्थिक सभी समस्याओं का समाधान है अहिंसा। नैतिकता हो या आध्यात्मिकता-दोनों को अनुप्राणित रखने वाली अहिंसा ही है। निर्मल चेतना से अनुशासित, विधायक और व्यवहार्य जीवन विधान है- अहिंसा। वह मानव समाज की सबसे बड़ी आध्यात्मिक पूंजी है। वह एक आन्तरिक दिव्य प्रकाश है, मानवता की एक सहज-स्वाभाविक शाश्वत ज्योति है। वह मानव का अविनाशी अविकारी स्वभाव है। वह सहृदयता का असीम विस्तार है। प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, तथा अच्छाई की बुराई पर विजय का सर्वोच्च उद्घोष है- अहिंसा।

मानव-मात्र को ही नहीं, अपितु प्राणीमात्र को परस्पर सह-अस्तित्व, स्नेह-सौहार्द, सहभागिता व सद्भावना के सूत्र से जोड़ने वाली वैश्विक सामाजिकता का ही दूसरा नाम है- अहिंसा। अहिंसा वह शक्ति है जो विश्व के समग्र चैतन्य को एक धरातल पर ला खड़ी करती है। अहिंसा के सिवा और कोई आधार नहीं, जो खण्ड-खण्ड होती हुई मानव जाति को एकरूपता दे सके या उसे विश्वबन्धुत्व के सूत्र में बांध सके। मानव-जाति के प्राकल्पिक भेदों व विषमताओं के स्थान पर समता व शान्ति स्थापित करने की क्षमता अहिंसा में ही है। अहिंसा को जीवन के हर एक क्षेत्र में व्यापक बनाकर ही, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की पहल की जा सकती है। उपर्युक्त वैचारिक परिप्रेक्ष्य में, अहिंसा को ही मानव-धर्म या विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित होने का गौरव

* रीडर, शिक्षाशास्त्र विभाग, अग्रसेन कन्या स्वायत्तशासी पी.जी.कालेज, वाराणसी।

** वरिष्ठ प्रवक्ता, शिक्षाशास्त्र विभाग, आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी।

प्राप्त होता है।

भारतीय संस्कृति के उषाकाल से ही “अहिंसा” यहां के धर्म-दर्शन में पूर्णतया मुखरित होती रही है। “संगच्छध्वं, संवदध्वं, “समाना हृदयानि वः, “मित्रस्त चक्षुषा समीक्षामहे” तथा “सहृदयं सांमनस्यम् अविद्वेष कृणोमि”- इत्यादि वैदिक ऋषियों की वाणी में अहिंसा की जो सरिता प्रवाहित हुयी, उसने परवर्ती सांस्कृतिक व दार्शनिक धरातल की वैचारिक फसल को अनवरत रूप से सींच कर संवर्द्धित किया है। यद्यपि कभी-कभी यज्ञ आदि के सन्दर्भ में अहिंसा धर्म की विकृत व्याख्या किये जाने से अहिंसा का स्वर कुछ मन्द पड़ा तथापि अन्ततोगत्वा अहिंसा की ही विजय हुई। भारतीय संस्कृति के महान प्रतिनिधि-साहित्य पुराणों व महाभारत में “अहिंसा परमो धर्मः” का उच्च उद्घोष मुखरित हुआ और यह सिद्ध हुआ कि अहिंसा की जड़ें भारतीय जन-मानस में बहुत गहरी व सशक्त हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विज्ञानेश्वर के अनुसार अहिंसा आदि सामान्य धर्म का आचरण चाण्डाल के लिये भी आवश्यक है। अतः सामान्य धर्म तो मानव धर्म है। महाभारत के अनुसार-

एताद्वि त्रितयं श्रेष्ठं सर्वभूतेषु भारत ।
निर्वैरिता महाराज सत्यमक्रोध एव च ॥

तात्पर्य यह कि शत्रुविहीनता, सत्य और अक्रोध ये तीन सर्वश्रेष्ठ गुण हैं। महात्मा मनु का कहना है कि-

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चतुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ १०/६३

तात्पर्य यह है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह आदि सभी बड़ों के धर्म हैं।

सामान्य धर्म अथवा सभी लोगों के लिये आचरणीय धर्म निम्नलिखित हैं-

१. सत्यं भूतिहितं प्रोक्तं - सभी प्राणियों के लिये हितकर सत्य वचन है।
२. मनसो दमनं दमः - मन को वश में करना दम है।
३. तपः स्वधर्मवतित्वं - अपने धर्म पर स्थिर रहना तप है।

४. शौचं संकरवर्जनम् - अशुद्ध वस्तु से सम्बन्ध न रखना शौच है।
५. सन्तोषो विषयत्यागो - विषय का त्याग सन्तोष है।
६. ही कार्यनिवर्तनम् - अनुचित कार्यों से निवृत्ति रहना ही ही है।
७. क्षमाद्वन्द्वसहिष्णुत्वम् - कलह होने पर भी सहना क्षमा है।
८. आर्जवं समचितता - सबमें समदृष्टि रखना आर्जव है।
९. ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः - आत्मतत्त्व का बोध ज्ञान है।
१०. समचित्त प्रशान्तता - मन का चंचल न होना शम है।
११. दयाभूतहितैषित्वम् - सभी प्राणियों का हितैषी होना दया है।
१२. ध्यान निर्विषयं मनः - मन का विषयरहित बनना ध्यान है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि सामान्य धर्म का तात्पर्य मानव का सर्वतोमुखी विकास है। इन गुणों का पालन करने में सबका सभी समय कल्याण होगा। श्रीमद्भागवत (७/११/२/१२) में बतलाया गया है कि देव-ऋषि नारद ने युधिष्ठिर को अग्रलिखित तीस गुणों को सामान्य आचार के अन्तर्गत बतलाया है।^१

महात्मा मनु ने धर्म के सुप्रसिद्ध दस लक्षणों का वर्णन किया है- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध और अहिंसा ये दस लक्षण है।^२ इन दस लक्षणों में साधारण धर्म के प्रायः सभी लक्षणों का समावेश हो जाता है।

मनु के दस लक्षणों के अतिरिक्त भी कुछ और साधारण धर्म माने गये हैं। महाभारत को पञ्चम वेद माना जाता है। इसमें आचार के सभी नियम विस्तार से बतलाये गये हैं। महाभारत के अनुसार सत्य, दम, तप, शौच, सन्तोष लज्जा, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, दया और ध्यान सामान्य सनातन धर्म हैं तथा अक्रूरता, अहिंसा, अप्रमाद, संविभागिता, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, स्वपत्नी-सन्तोष, शौच, सदा अनसूया, आत्मज्ञान और तितिक्षा को साधारण धर्म कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सामान्य, सनातन और साधारण धर्म में विशेष अन्तर नहीं है।

प्रायः मनु-स्मृति के समान ही याज्ञवल्क्य स्मृति में दस यम और दस

नियम बतलाये गये हैं। दस यम हैं— ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अवल्कता, दम और माधुर्य। दस नियम हैं— स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थ-निग्रह, गुरु-सेवा, शौच, अक्रोध और अप्रमादता। इस प्रकार सनातन धर्म या साधारण धर्म के नियम प्रायः सभी के समान ही हैं। महात्मा मनु के दस धर्म के अतिरिक्त भी कुछ सनातन धर्म के लक्षण माने गये हैं। (यद्यपि इनका सार महात्मा मनु के दस लक्षणों में प्रकारान्तर से आ जाता है)।

सनातन धर्म में अहिंसा, हिंसा का निषेध है। किसी भी प्रकार से हिंसा मान्य नहीं। सभी प्राणी जीवन का संरक्षण चाहते हैं। अतः किसी के भी जीवन का विनाश अनुचित है। इस अहिंसा को शास्त्रों में “परम धर्म” (अहिंसा परमो धर्मः) कहा गया है। वेद की वाणी है— किसी भी प्राणी की हिंसा न करें (न हिंस्यात् सर्वभूतानि)। जिस प्रकार हमारा जीवन हमें प्रिय है, उसी प्रकार दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। किसी का वध करना पाप है। यह आचार का सनातन नियम है। इस आचार को मानने वाला किसी की हिंसा नहीं करता अथवा दूसरों के द्वारा की गयी हिंसा का समर्थन नहीं करता। अहिंसा शाश्वत धर्म मानते हुए महात्मा मनु ने आठ प्रकार की हिंसा का वर्णन किया है—

१. अनुमन्ता - जिसकी अनुमति के बिना वध नहीं हो सकता
२. विशसिता - वध किये हुए प्राणियों के अंग को काटना
३. निहन्ता - वध करने वाला
४. विक्रेता - मांस बेचने वाला
५. क्रेता - मांस खरीदने वाला
६. संस्कर्ता - मांस को पकाने वाला
७. अपहर्ता - उपहार के रूप में मांस को देने वाला एवं
८. खादक - मांस खाने वाला।

मनुस्मृति में ‘मांस’ शब्द का निर्वचन बड़ा सुन्दर है। “माम् ” शब्द का अर्थ “मुझको” है और “सः” का अर्थ “वह” है। अतः ‘मांस’ शब्द का अर्थ है कि इस लोक में जिसका मांस खाता हूँ वह परलोक में मुझको खायेगा।^३ इससे स्पष्ट है कि अहिंसा धर्म है। अहिंसा को धर्म मानने के लिये दया की आवश्यकता है। इसीलिये दया को भी धर्म माना गया है। जिसके हृदय में दया

है, वह किसी की हिंसा नहीं कर सकता। अहिंसा की यह प्रतिष्ठित स्थिति आधुनिक युग तक विद्यमान है, यह तथ्य हिन्दी साहित्य के मूर्धन्यसंत कवि तुलसीदास जी द्वारा रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में कहे गये वचन “परम धर्म श्रुति-विदित अहिंसा” से रेखांकित होता है।

भारतीय श्रमण संस्कृति (बौद्ध और जैन संस्कृति) दोनों ने ही जातिवाद एवं कर्मकाण्ड को महत्त्व न देकर आन्तरिक विशुद्धि और सदाचार पर बल दिया। उसके विचारों ने भारतीय वैदिक संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया है। भगवान महावीर के पावन-प्रवचन गणपिटक (जैन-आगम) के रूप में विश्रुत हैं, तो बुद्ध के प्रवचनों का संकलन त्रिपिटक (बौद्धागम) के रूप में प्रसिद्ध है।

बौद्ध तथा जैन दोनों धर्म सांसारिक जीवन में दुःख की सर्वव्यापकता स्वीकार करते हैं और दुःख-विमुक्ति का आदर्श रखते हैं। जैन आगम उत्तराध्ययन में अविनश्वर सुख की प्राप्ति के लिये चेतन और अचेतन के संयोग और वियोग की आध्यात्मिक प्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान आवश्यक बताया गया है। इस प्रक्रिया को जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य तथा पाप के द्वारा व्यक्त किया गया है। हिंसादि अशुभ कार्यों से अजीव से जीव का बन्ध होता है और अहिंसादि शुभ कार्यों से जीव मुक्त होता है। कुछ इसी प्रकार के सत्य का साक्षात्कार भगवान बुद्ध ने भी किया। यद्यपि वे चेतन-अचेतन द्रव्यों की नित्य सत्ता में विश्वास नहीं करते थे और अनित्यता, अनात्मता तथा दुःख को सांसारिक जीवन के प्रधान लक्षण मानते थे। उन्होंने अपने स्वानुभूत ज्ञान को चतुरार्य सत्तों के रूप में व्यक्त किया- दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोध-मार्ग। दुःखनिरोध के लिये जिन उपायों को धम्मपद में बतलाया गया है वे ही प्रायः उत्तराध्ययन में भी हैं। अन्तर इतना ही है कि जहां बौद्ध-दर्शन नैरात्म्य पर जोर देता है वहां उत्तराध्ययन उपनिषदों की तरह आत्मा के सद्भाव पर। उपर्युक्त चार बौद्ध सत्तों की तुलना उत्तराध्ययनसूत्र के जैन तत्त्व-योजना से निम्न रूप से की जा सकती है। धम्मपद का दुःख-तत्त्व उत्तराध्ययन के बन्धन-तत्त्व से, दुःख हेतु आस्रव से, दुःख निरोध मोक्ष से, और दुःखनिरोध-मार्ग (अष्टांगिकमार्ग) संवर और निर्जरा से तुलनीय हो सकते हैं।^४

आगे चलकर इसमें शरण गमन, अर्हत्तत्त्व, कर्म एवं निर्वाण का विवेचन है। बुद्ध, धर्म और संघ की शरण को ‘त्रिशरण’ कहते हैं। बौद्ध धर्म में इनको ‘त्रिरत्न’ माना गया है और प्रत्येक बौद्ध के लिये इनकी अनुस्मृति आवश्यक कही गयी है। बुद्ध की अनुस्मृति का अर्थ है, उनके अर्हत्व आदि गुणों का

पुनः-पुनः स्मरणा धम्मपद में बुद्ध और उनकी स्मृति के ऊपर एक वर्ग ही है। धम्म की अनुस्मृति को बुद्ध की स्मृति से भी महत्वपूर्ण कहा गया है, क्योंकि धर्म के साक्षात्कार से ही बुद्ध, 'बुद्ध' बने थे। धम्मपद में धम्म पर भी एक अलग से वर्ग है। धर्म के प्रचार एवं आध्यात्मिक साधना के अभ्यास के लिये बौद्ध-अनुयायियों का संगठन ही संघ था। वे बुद्ध को धर्म द्वारा संचालित और अपने से भी बड़ा मानते थे। संघ के गुणों का बार-बार स्मरणसंधानुस्मृति है और धम्मपद में भी इसे उतना ही आवश्यक माना गया है। त्रिशरण की बात उत्तराध्ययन में तो नहीं है, किन्तु चतुर्विध शरण का उल्लेख आवश्यक सूत्र में है। संघ के महत्व का उल्लेख नन्दीसूत्र में है। बौद्ध और जैन दोनों में आध्यात्मिक प्रगति के विभिन्न स्तरों की कल्पना है। सामान्यतया बौद्ध धर्म में इनको क्रमशः स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागमी एवं अर्हत् कहा जाता था। धम्मपद में इनका क्रमबद्ध उल्लेख तो नहीं है, किन्तु अर्हत्-तत्त्व का वर्णन है। इस ग्रन्थ के सातवें वग्ग का नाम "अरहन्तवग्ग" है और इसकी प्रत्येक गाथा में अर्हत्तों का वर्णन है। अर्हत्त्व का तात्पर्य साधक की उस अवस्था से है जिसमें तृष्णा, राग-द्वेष की वृत्तियों का क्षय हो चुका हो और वह सभी सांसारिक मोह तथा बन्धनों से ऊपर हो। उत्तराध्ययन में भी वीतराग एवं अरिहन्त जीवन का प्रायः इसी रूप में वर्णन है और उसे नैतिक जीवन का परम साध्य माना गया है। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों को कर्म-सिद्धान्त समान रूप से स्वीकार्य है। जगत् के स्रष्टा और नियामक किसी ईश्वर की कल्पना अस्वीकार कर दोनों धर्म जीव की गति कर्म के ही अधीन मानते हैं। परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी थे। बौद्ध कर्म को किसी नित्य, शाश्वतकर्ता का व्यापार नहीं मानते थे। इसी प्रकार जहां बौद्ध कर्म को मूलतः मानसिक संस्कार के रूप में ग्रहण करते थे, वहां जैन उसे पौद्गलिक मानते थे। धम्मपद और उत्तराध्ययनसूत्र^५ के अध्ययन से भी इन तथ्यों की पुष्टि होती है।

धम्मपद में यह उक्ति प्राप्त होती है कि मार्गों में अष्टांगिक मार्ग सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन ही दुःख-विमुक्ति के मूल साधन हैं तथा अष्टांगिक मार्ग इसी साधन-त्रय का पल्लवित रूप है। उत्तराध्ययनसूत्र में मोक्ष के चार साधन कहे गये हैं: दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप। जैन आचार्यों ने सम्यक् चारित्र में ही तप का अन्तर्भाव कर परवर्ती साहित्य में त्रिविध साधना-मार्गों का विधान किया। जैन-दर्शन में यह "रत्नत्रय" नाम से प्रसिद्ध हुआ। तुलनात्मक अध्ययन से यह

भी स्पष्ट होता है कि उत्तराध्ययन के सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान धम्मपद के समाधि और प्रज्ञा स्कन्ध के समकक्ष हैं। धम्मपद का शील स्कन्ध उत्तराध्ययन के सम्यक् चारित्र में सरलता से अन्तर्भूत हो जाता है। वस्तुतः बौद्ध और जैनधर्म के आचार में मौलिक समानतायें हैं। बौद्धों के शील जैनव्रतों से सहज ही तुलनीय हैं। अहिंसा के सम्बन्ध में दोनों में किञ्चित् दृष्टिभेद अवश्य था और तत्त्वमीमांसा के मौलिक अन्तर के कारण दोनों की ध्यान पद्धतियों में भी असमानतायें थीं, परन्तु दोनों में सबसे महत्त्वपूर्ण भेद यह था कि जहां जैन धर्म काय-क्लेश और कठोर तप पर बल देता था, बौद्धधर्म अतिवर्जना और मध्यम मार्ग के पक्ष में था। धम्मपद और उत्तराध्ययन से इन तथ्यों की भी पुष्टि होती है। धम्मपद और उत्तराध्ययन दोनों में पुण्य-पाप की अवधारणायें प्रायः समान हैं। दोनों में याज्ञिकी हिंसा तथा वर्ण-भेद की आलोचना है। दोनों सदाचरण को ही जीवन में उच्चता-नीचता का प्रतिमान मानते हैं और ब्राह्मण की जन्मानुसारी नहीं अपितु कर्मानुसारी परिभाषा प्रस्तुत करते हैं।

जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवाद को नहीं मानते हैं। बौद्धदर्शन परिवर्तनवादी है। उसमें परिवर्तन की प्रस्तुत प्रक्रिया “प्रतीत्य समुत्पादवाद” के नाम से कही गयी है। यह अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य पैदा नहीं होता परन्तु सन्तति-प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होता है।

जैनदर्शन के अनुसार विश्व में जो कुछ भी परिवर्तन दिखलायी दे रहा है, वह जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। वह परिवर्तन दो प्रकार का है-

(१) स्वाभाविक।

(२) प्रायोगिक।

स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होने से चर्मचक्षुओं से दिखायी नहीं देता, किन्तु प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होने से दिखलायी देता है। जीवन और पुद्गल के सांयोगिक अवस्था से ही यह दृश्य जगत् प्रवहमान है।

वैदिक ऋषि विश्व के सम्बन्ध में संदिग्ध रहे हैं। उनका अभिमत है कि प्रलय दशा में असत् भी नहीं था, सत् भी नहीं था, पृथ्वी भी नहीं थी, आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।

प्रकृति तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुई

हैं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहां से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये विविध सृष्टियां कहां से हुईं, किसने सृष्टियां की, और किसने नहीं की— ये सभी बातें वे ही जानें जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। सम्भव है वे भी सब कुछ न जानते हों।^६

जैनदर्शन विश्व के सम्बन्ध में किञ्चित् मात्र भी संदिग्ध नहीं है। उसका स्पष्ट अभिमत है कि चेतन से अचेतन उत्पन्न नहीं होता और अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। किन्तु चेतन और अचेतन ये दोनों अनादि हैं।

जैनदर्शन में तत्त्व की व्यवस्था दो प्रकार से की गयी है— षट्द्रव्य रूप में तथा सप्त-तत्त्व या नव पदार्थ के रूप में। (द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ इन तीनों का एक ही अर्थ है)

जैनदर्शन में विभिन्न स्थलों पर और विभिन्न प्रसंगों पर सत्, सत्व, तत्त्वार्थ, अर्थ, पदार्थ और द्रव्य—इन शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया गया है। अतः ये शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची रहे हैं। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-सूत्र में तत्त्वार्थ, सत् और द्रव्य शब्द का प्रयोग तत्त्व अर्थ में किया है। अतः जैनदर्शन में जो तत्त्व है वह सत् है और जो सत् है वह द्रव्य है। केवल शब्दों में अन्तर है, भावों में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य नेमिचन्द्र ने कहा है— द्रव्य के दो भेद हैं— जीवन द्रव्य और अजीवन द्रव्य। शेष सम्पूर्ण संसार इन दोनों का ही प्रपंच है, विस्तार है। सत् क्या है? इस प्रश्न का उत्तर बौद्धदर्शन इस प्रकार देता है— यत्क्षणिकं तत् सत्^७, इस विश्व में जो कुछ है वह सब क्षणिक है। बौद्ध दृष्टि से जो क्षणिक है वही सत् है, वही सत्य है। इसके विपरीत वेदान्तदर्शन का अभिमत है कि जो अप्रच्युत, अनुत्पन्न, एवं एकरूप है वही सत् है, शेष सभी कुछ मिथ्या है। बौद्धदर्शन इस प्रकार एकान्त क्षणिकवादी है और वेदान्तदर्शन एकान्त नित्यतावादी है। दोनों दो किनारों पर खड़े हैं। जैनदर्शन इन दोनों एकान्तवादों को अस्वीकार करता है। वह परिणामी-नित्यवाद को मानता है। सत् क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में जैनदर्शन का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य-युक्त है वही सत् है, तत्त्व है और द्रव्य है। उत्पाद और व्यय के अभाव में ध्रौव्य कदापि नहीं रह सकता और ध्रौव्य के अभाव में उत्पाद और व्यय नहीं रहते। एक वस्तु में एक समय में उत्पाद भी हो रहा है, व्यय भी हो रहा है, और ध्रुवत्व भी रहता है। विश्व

की प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टि से नित्य है, पर्यायदृष्टि से अनित्य है, इसलिये तत्त्व रूप से परिणामीनित्य है किन्तु वह एकान्त नित्य और अनित्य नहीं है।

आचार के सन्दर्भ में बौद्धों के पंचशील जैनधर्म के पंचमहाव्रत के समकक्ष हैं। वास्तव में पंचमहाव्रत सम्पूर्ण श्रमणाचार की आधारशिला है। पंचमहाव्रत ही श्रमण-आचार का वह केन्द्र-बिन्दु है, जहां से अनेक त्रिज्यायें विभिन्न नियमों-उपनियमों के रूप में प्रसरित होती हैं अथवा संघटित होकर केन्द्ररूपी पंचमहाव्रत की सुरक्षा और विकास के विस्तृत आयाम प्रस्तुत करती हैं। पंचमहाव्रतों को श्रमण जीवनभर के लिये मन, वचन, काय से धारण करता है और इनकी सर्वांशतः सुरक्षा करता हुआ निर्वाण की भूमिका तक पहुँचने में सक्षम होता है। भगवान महावीर ने अपने धर्म का मूलाधार अहिंसा माना है और अहिंसा के ही विस्तार में उन्होंने पंचमहाव्रतों को स्थापित किया। अहिंसा को जैन धर्म में परम धर्म माना गया है। अहिंसा को धर्म मानने वाले तो सभी भारतीय दार्शनिक हैं परन्तु अहिंसा को ही परम धर्म, मानव का सच्चा धर्म, मानव का सच्चा कार्य मानने वाले केवल जैन लोग हैं। तात्पर्य यह है कि- किसी भी प्रकार की हिंसा को जैनधर्म में पाप माना गया है। हिंसा न करना तथा सभी जीवों पर दया रखना इत्यादि अहिंसा का अर्थ तो सर्वत्र समान है। परन्तु सर्वतोभावेन अहिंसा व्रत का पालन करना तो जैन धर्म की ही देन है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वैदिक संस्कृति की अपेक्षा श्रमण संस्कृति में अहिंसा का अधिक महत्त्व है। वैदिक संस्कृति में जीवों की हिंसा न करना तथा जीवों के प्रति दया का भाव रखना आदि उपदेशों को बार-बार दुहराया गया है परन्तु साथ ही साथ यज्ञ में दिये गये निरीह पशु की बलि को हिंसा नहीं माना जाता (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति)। महाकरुणा के अवतार भगवान बुद्ध, ने अहिंसा (सभी जीवों के प्रति दया और समानता) का पाठ पढ़ाया परन्तु बौद्ध-भिक्षुओं को अश्रुत, अदृष्ट तथा अगोचर मांस-भक्षण की अनुमति दे दी। जैन धर्म में किसी को मारना तो दूर रहा छोटे से छोटे जीव को कष्ट पहुंचाना भी हिंसा है।

अहिंसा का जितना सूक्ष्म विश्लेषण जैन धर्म में किया गया है, उतना-विश्व के किसी भी धर्म में नहीं है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, द्वीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय प्रभृति किसी भी प्राणि की मन, वचन और कार्य में हिंसा न करना, करवाना और न अनुमोदन करना जैन धर्म की अपनी अनुपम विशेषता है। अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है। विश्व की जितनी भी आत्माएं हैं उनमें तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। वे सभी समान हैं। प्रत्येक प्राणी

को सुख-दुःख का अनुभव होता है। जीवन-मरण की प्रतीति होती है। सभी जीवन जीना चाहते हैं, कोई भी जीवन मरने की इच्छा नहीं करता। अतः हमारा परम कर्तव्य है कि मन, वचन, और काय से हम किसी को भी कष्ट न दें। मन, वचन और काय से किसी प्राणी को कष्ट न देना पूर्ण अहिंसा है। आचार का यह महत्त्वपूर्ण विकास जैनधर्म की अपनी अमूल्य देन है।

अहिंसा को केन्द्र मानकर, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विकास हुआ है। इसका यही तात्पर्य है कि सभी व्रतों का मूल आधार अहिंसा ही है। अहिंसक व्यक्ति असत्य भाषण नहीं कर सकता। अहिंसक व्यक्ति चोरी नहीं कर सकता, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर सकता और परिग्रह भी नहीं कर सकता। परिग्रह आत्म-विकास का बाधक तत्त्व है। जहाँ पर परिग्रह है, वहाँ पर आत्म-पतन है। परिग्रह की अभिवृद्धि से जन-जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। इसलिये अहिंसक व्यक्ति अपरिग्रही होता है।

अहिंसा किसी भौतिक तत्त्व का नाम नहीं है, वह मानव मन की एक वृत्ति है, भावना है, विचार है। भावना-मन की क्रूरवृत्ति हिंसा है और कोमलवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा मानव-मन का अमृत है और हिंसा विष है। अहिंसा जीवन है तो हिंसा मरण है। अहिंसा स्याग है तो हिंसा भोग है, अहिंसा जगमगाता प्रकाश है तो हिंसा घोर अन्धेरा है।

जैन संस्कृति की चिन्तन धारा के अनुसार, धर्म के महामंदिर में प्रविष्ट होने के लिये सर्वप्रथम अहिंसा के मुख्य द्वार को स्पर्श करना अनिवार्य है। दया, अनुकम्पा, सेवा-भाव, मैत्रीभाव आदि सभी सद्भावों में “अहिंसा” का ही प्रतिबिम्ब झलकता है। भारतीय श्रमण संस्कृति, विशेषकर जैन संस्कृति तो अहिंसा की प्रबल पक्षधर रही है। उसके विचारों ने भारतीय वैदिक संस्कृति को अत्यधिक प्रभावित किया। दोनों संस्कृतियों के संगम ने “अहिंसा” को एक व्यापक व सर्वमान्य आयाम दिया जिसे भारतीय वाङ्मय में स्पष्ट देखा जा सकता है। जैन दर्शन ने “अनेकान्तवाद” को उपस्थापित कर वैचारिक धरातल पर अहिंसा को नये रूप में प्रतिष्ठापित किया और वैचारिक सहिष्णुता, आग्रहहीनता को अहिंसक दृष्टि से जोड़ा। जैन संस्कृति ने अहिंसा के सूक्ष्म से सूक्ष्म पक्षों पर प्रकाश डालते हुए समता, संयम व आत्मोपम्य दृष्टि से जोड़ कर अहिंसा को व्याख्यायित किया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैदिक संस्कृति एवं श्रमण संस्कृति (बौद्ध

* संस्कृति और जैन) का मूलाधार अहिंसा माना गया है। प्रत्येक प्राणी के लिये सुख एवं शान्ति अभिलषित है। वैयक्तिक सुख शान्ति ही नहीं, विश्व शान्ति की प्रक्रिया में भी अहिंसा को व्यावहारिक जीवन में प्रतिष्ठापित करने की आवश्यकता निर्विवाद है। आधुनिक युग का आतंकवाद हिंसक वातावरण की उपज है, जिसने विश्व के प्रत्येक देश को अहिंसा का महत्त्व समझने लिये बाध्य किया है। भारतवर्ष की संस्कृति का “उत्स” अहिंसा है। भारतवर्ष अहिंसा का सन्देश समस्त विश्व को देता आ रहा है जिसका प्रतिफल यह है कि विश्व के प्रायः सभी धर्मों में अहिंसा को उपादेय माना गया है। आधुनिक युग में, धर्म, दर्शन के क्षेत्र में, खण्डन-मण्डन के स्वर के स्थान पर समन्वयात्मक दृष्टिकोण और सहिष्णुता को अपनाने को प्रमुखता दी जा रही है। विद्वानों का यह सर्वत्र प्रयास चल रहा है कि सभी धर्मों, दर्शनों में व्याप्त समानता को अधिकाधिक रेखांकित किया जाय ताकि वे एकता के सूत्र में बंधकर, सामूहिक रूप से समस्त मानवता के लिये सुखशान्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकें।

ग्रन्थ

१. सिंह, बी०एन ; 'धर्म दर्शन; स्टूडेंट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी, (प्रथम संस्करण), १९८९, पृष्ठ संख्या २१०.
२. धृति: क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या स्त्यमक्रोधो दशकं धर्मक्षणम्॥

मनुस्मृति ६/९२

३. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम्।
एतन्मांसस्यसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
मनुस्मृति ५/५५ (सिंह बी०एन, धर्मदर्शन, पृष्ठ संख्या २१९)
४. सिंह, महेन्द्र नाथ; बौद्ध तथा जैन धर्म; वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, (प्रथम संस्करण), १९९०, पृष्ठ संख्या-१५.
५. बौद्ध तथा जैन धर्म-दर्शन, ब्राह्मण चिन्तन (वेदकालीन वेद परम्परा के दर्शन) तथा वैदिक धर्म समानान्तर धर्म व्यवस्थायें हैं और इनका विकास ब्राह्मण धर्म के विरोध में 'पालिश्रास्त्र' धम्मपद और 'प्राकृतशास्त्र' 'उत्तराध्ययनसूत्र' का संकलन और प्रसारण विकसित हुआ। तीनों की अपनी एक जातीय संस्कृति है।
वही, पृष्ठ संख्या ७-९. (प्राक्कथन के अन्तर्गत)
७. देवेन्द्रमुनि; 'जैन दर्शन-एक विश्लेषण', नयी दिल्ली : यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, १९९७.
८. श्रीकान्त पाण्डेय; 'भारतीय दर्शन', मेरठ, साहित्य भंडार, १९८६.



भगवान महवीर की देन भारत की अहिंसक संस्कृति

डा० ललिता शुक्ला*

संस्कृति का अर्थ है - वे विचार, आचार और विश्वास जिनसे मानव का संस्कार किया जाता है; उसे उन्नत और समाज रचना के योग्य बनाया जाता है। संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि - “ कस्यापि देशस्य समाजस्य वा विभिन्नजीवनव्यापारेषु सामाजिकसम्बन्धेषु वा मानवीयत्वदृष्ट्या प्रेरणाप्रदानां तत्तदादर्शानां समष्टिरेव संस्कृतिः^१” अर्थात् किसी देश या समाज के विभिन्न जीवनव्यापारों में या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले उन-उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिये। संस्कृति की आत्मा आचार, विचार और विश्वास की त्रिपुटी तथा रहन-सहन, खान-पान सम्बन्धी विविधतायें संस्कृति के विविध शरीर हैं। धर्म और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध है। किसी भी धर्म की अपनी पृथक संस्कृति का इतना ही अर्थ है कि उसके अपने विश्वास, विचार और आचार की धारा जुदी है। जो परम्परागत अपने धर्म और सम्प्रदाय को ही भारतीय संस्कृति समझ बैठते हैं वे संकीर्ण दृष्टिवाले हैं। व्यापक रूप से भारतीय संस्कृति देश के परस्पर विरोधी तत्वों को मिलाने वाली, गंगा की सतत् अग्रगामिनी तथा विभिन्न धाराओं को आत्मसात करने वाली है।

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। वैदिक एवं श्रमण दो धाराओं में प्रवहमान इस भारतीय संस्कृति ने अपने विकास पथ में अनेक विरोधों का सामना किया। कभी विदेशी आक्रामकों ने, कभी तत्कालीन विशेष परिस्थितियों ने, तो कभी अन्दरूनी अलगाववादी ताकतों ने भारतीय संस्कृति की फिजां को तार-तार करना चाहा किन्तु चूंकि सहिष्णुता और उदारता भारतीय संस्कृति की घुड़ी में रही है इसलिये सभी प्रकार के विरोध का शमन और समन्वय करती हुई भारत की गंगा-यमुनी संस्कृति नवीनतर विस्तार और प्रवाह के साथ

* रीडर, शिक्षाशास्त्र विभाग, हरिश्चन्द्र पी.जी. कालेज, वाराणसी।

आगे बढ़ती रही है। इकबाल ने ठीक ही कहा है-

**सदियों से रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा
कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।।**

वस्तुतः इस संस्कृति को अक्षुण्ण रखने में भारतीय मनीषियों, वीर पुरुषों एवं महान आत्माओं का अविस्मरणीय योगदान रहा है। उन्हीं महान आत्माओं में छठी शताब्दी ईसापूर्व में विश्वजनीन मानव संस्कृति के महान प्रेरक, बाह्य एवं आभ्यन्तर बाधाओं से पीडित मानव समाज को स्वावलम्बन के उत्कट पथ को, और अन्तःकरण द्वारा चारित्र्य शुद्धि, इन्द्रिय विजय, सत्य तथा अहिंसा के समाश्रय से उसकी उन्नति के सम्भावित ईश्वर पद को, अपने पूर्णतः आदर्श जीवन के उदाहरण से दर्शाने वाले भगवान महावीर का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने न केवल २३ पूर्व तीर्थकरों की परम्परा वाले जैन धर्म-दर्शन को एक नया रूप दिया बल्कि उसके उन्नयन एवं विकास के भी पुरोधा बने। भगवान महावीर का प्रादुर्भाव उस समय हुआ जब हिंसा और अधिनायकवाद का जबर्दस्त बोलबाला था। ब्राह्मण वर्ग जो धर्म और नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता था, अपने दायित्व को लगभग भूल चुका था। यज्ञों में होने वाली हिंसा धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित थी। शूद्र और स्त्री समाज को शास्त्रों के अध्ययन की रोक थी। जात्यभिमान चरम सीमा पर था। ऐसे समय में भगवान महावीर ने पतनोन्मुख भारतीय संस्कृति को एक चिर सत्य प्रदान कर उसे ऊर्ध्वगामी होने को प्रेरित किया। तत्कालीन धर्मध्वजियों, सामाजिक भ्रान्त रूढियों, अन्धविश्वासों तथा हिंसावृत्ति के सुदृढ़ दुर्ग ढह-ढह कर गिरने लगे। भगवान महावीर ने जिन सिद्धान्तों को, विचारों को दुनियां के सामने रखा, वे कोई नये नहीं थे। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह आदि सिद्धान्त किसी न किसी रूप में भारतीय वाङ्मय में पहले से अनुप्राणित रहे हैं। स्वयं जैन धर्म के तेईसवें तीर्थकर भगवान पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म भगवान महावीर के पहले प्रतिष्ठित था। किन्तु महावीर ने न केवल उसमें ब्रह्मचर्य व्रत को जोड़कर पंचयाम का उपदेश दिया अपितु अहिंसा जिसका एकांगी विकास ही तबतक हो पाया था, में सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि गुणों का विधान किया। उन्होंने अहिंसक जैन संस्कृति में अनेकान्त, स्याद्वाद प्रभृति कतिपय सिद्धान्तों का समावेश कर जैन धर्म को उसकी उंचाइयों पर प्रतिष्ठित किया जिसका मूल आधार अहिंसा है।

प्रारम्भ से जैन धर्म का अहिंसा पर विशेष बल रहा है। अहिंसा वह विशेष स्वर्णिम धागा है जो ३००० वर्षों से भी अधिक समय से भारतीय धर्म एवं

संस्कृतिरूपी पट में बुना हुआ है जिसके धागे त्याग की कतली पर काते गये हैं। त्याग का अभ्यास आन्तरिक रूप से मन को शान्ति प्रदान करता है तो बाह्य रूप से समुचित व्यवहार। ईशावास्योपनिषद्^२ का ऋषि “त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्” मन्त्र में इसी त्याग की बात करता है। अहिंसा सिद्धान्त जैन धर्म दर्शन की आधारभित्ति है, उसका प्राण है। इस सिद्धान्त का एक क्रमिक विकास हुआ है। वेदों, उपनिषदों से होते हुए महाभारतकाल में अहिंसा का अधिक विकास हुआ। शान्तिपर्व में कहा गया है कि जिस स्थान पर वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, सत्य, इन्द्रिय-संयम एवं अहिंसा व्रतों का पालन हो, वही स्थान वरेण्य होता है। भगवद्गीता जो महाभारत का ही एक अंश है, और जो सभी आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समन्वय करती है, अहिंसा को प्रमुखतया प्रतिपादित करती है। मीमांसक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' कहकर हिंसा के दोष से भले ही पल्ला झाड़ लेते हों लेकिन उत्तर मीमांसा में उन्हीं याज्ञिकों के एक वर्ग ने हिंसा को हिंसा माना और उसका निषेध किया।

हिंसा है क्या? अपने मन, वाणी और शरीर के द्वारा प्रमादवश किसी भी प्राणी के प्राणों का विच्छेद कर डालना^३ अथवा प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना हिंसा है। इसके विपरीत मन, वाणी और शरीर के द्वारा सावधानी से किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है। अहिंसा, हिंसा का मात्र अभाव नहीं अपितु वह जीवन जीने की कला है, जीवन-सद्व्यवहार है। हिंसा का कारण है -क्रोध, मान, माया एवं लोभ जिसे जैन धर्म की शब्दावली में कषाय कहा गया है। संसार परिभ्रमण के कषाय ही कारण हैं। इन पर यदि विजय प्राप्त कर ली जाय तो कुछ भी अविजित नहीं रहता है। भगवान बुद्ध ने जिस शील की देशना अपने शिष्यों को दी उसके तीन प्रकारों- आरम्भिक, मध्यम एवं महाशील में अहिंसा को प्रमुखता दी गयी है। अहिंसा पर ही जैन धर्म के सभी सिद्धान्त आधारित हैं। चाहे वह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सिद्धान्त हो या अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सिद्धान्त हो, इन सबके मूल में अहिंसा है। अहिंसा अपने स्वरूप में एक निषेधात्मक गुण है, इसमें सन्देह नहीं। यथार्थतः पांचो ही व्रत अहिंसा, अचौर्य, अमैथुन और अपरिग्रह के नाम और स्वरूप से यही सिद्ध होता है कि हिंसादि नहीं करना चाहिये। पातञ्जल योगशास्त्र में इसके निषेधात्मक स्वरूप को और भी स्पष्टता से प्रकट किया गया है। अष्टांगयोग के यम और नियम इसी को द्योतित करते हैं। क्या नहीं करना चाहिये यह यम योग का विषय है जबकि क्या करना चाहिये यह नियम का विषय है। किन्तु

अहिंसा का निषेधात्मक के साथ उसका विधेयात्मक पक्ष भी है। अतः दोनों पक्षों का समन्वित रूप अहिंसा जैन-आचारमीमांसा की रीढ है। जैन धर्म का अहिंसा पर जोर उसके तत्त्व चिंतन का ही परिणाम है। अहिंसा का आधार क्या है? अहिंसा इस चिन्तन पर आधारित है कि संसार में अनन्त प्रकार के प्राणी हैं और उनमें प्रत्येक में समान जीवात्मायें हैं तथा सभी में ज्ञानात्मक विकास के द्वारा परमात्म पद प्राप्त करने की अपूर्व क्षमता है। जब शक्तिरूप से सभी जीवात्माएं समान हैं तो उनमें परस्पर सद्भाव, सम्मान और सहयोग सर्वथा वांछित है, न कि वैमनस्य, वैर एवं असहयोग। सबको अपनी आत्मा प्रिय है, सबको दुःख प्रतिकूल एवं सुख अनुकूल है^४, तो फिर एक दूसरे की हिंसा कैसी? मन, वचन एवं काया से किसी भी प्राणी को दुःख न पहुंचाना, न पहुंचवाना और न पहुंचाने वाले का अनुमोदन करना अहिंसा है। यही जैन धर्म की जनतन्त्रात्मक या प्राणितन्त्रात्मक व्यवस्था है। जनतन्त्रात्मकता मनुष्य-समाज तक ही सीमित है। जैन धर्म उसे अधिक व्यापक और विस्तृत बनाकर समस्त प्राणिमात्र को उसकी सदस्यता का पात्र स्वीकार करता है।

निःसन्देह अहिंसा उच्चतम नैतिक आदेश है किन्तु उसकी मर्यादायें कठोर हैं। जीवन की जितनी विषम परिस्थितियां हैं, प्राणियों में जितनी विरोधात्मक वृत्तियां हैं, उनसे अहिंसा सिद्धान्त के पूर्ण रूप से पालन किये जाने में बड़ी कठिनाइयां हैं। जैन धर्म को इन कठिनाइयों का बोध था और इसी लिये उसने अहिंसा सिद्धान्त में तरतम प्रणाली को स्थापित किया। गृहस्थ या श्रावक एक सीमा तक ही अहिंसा का पालन कर सकता है क्योंकि उसके दैनिक क्रिया कलापों में कुछ न कुछ हिंसा हो जाना तो अवश्यम्भावी है। अतः उनके लिये संकल्पी, विरोधी, आरम्भी एवं उद्योगी हिंसा के प्रकारों में विरोधी, आरम्भी एवं उद्योगी हिंसा में छूट दी गयी या उन्हें उतनी कड़ाई से पालन करने को नहीं कहा गया। श्रावकों के लिये जैन धर्म ने अणुव्रत की व्यवस्था की तथा जो लगभग पूर्णतया अहिंसा सिद्धान्त का पालन कर सकते हों उनके लिये महाव्रत का विधान किया। इस प्रकार दोनों अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में अहिंसा सिद्धान्त का पालन करते हैं। जैन साधुओं से पूर्ण अहिंसा की अपेक्षा की जाती है किन्तु जबतक उनका जीवन है, जीवन-निर्वाह हेतु आहार, गमनागमन, शयन आदि में हिंसा की सम्भावनाओं से बचा नहीं जा सकता। परन्तु ध्येय वही है कि अल्पतम हिंसा हो। हिंसा एवं अहिंसा का हमारे हृदय की भावनाओं से गहरा सम्बन्ध है। बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जिनको देखने से लगता है कि यह हिंसा का कार्य है किन्तु वहां हिंसा नहीं होती या होती भी है तो अल्प, जैसे शल्य चिकित्सक

द्वारा शल्यक्रिया के दौरान होने वाली मृत्यु। क्योंकि चिकित्सक का उद्देश्य रोगी को किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना नहीं था इस लिये उसे पापकर्म का बन्ध नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि जैन धर्म अहिंसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या करता है उतनी कोई भी धर्म नहीं करता।

“एकहि साधे सब सधै” यदि एक मात्र अहिंसा को ही अपने जीवन का मूलमन्त्र मान लिया जाय एवं तदनुसार व्यवहार किया जाय तो चहुंओर भाई-चारे, मैत्री, बान्धुत्व एवं सहयोग का साम्राज्य होगा। वैर, शत्रुता, असयोग का कहीं नामो निशां नहीं होगा।

महात्मा गांधी यदि अपने जीवन में किसी से सर्वाधिक प्रभावित थे तो वे थे -जैन सन्त एवं साधना के पर्याय श्रीमद् रामचन्द्र। उनकी साधना अप्रतिम थी। महात्मा गांधी का अहिंसा सिद्धान्त उन्हीं से अनुप्राणित था जिस पर चलकर उन्होंने देश को अंग्रेजों की दासता से मुक्ति दिलाई। उनका असहयोग आन्दोलन प्रकारान्तर से अहिंसा सिद्धान्त ही था। गांधीवाद को हम भगवान महावीर का आध्यात्मिक साम्यवाद कह सकते हैं। “जीओ और जीने दो” की अहिंसा पूर्ण वृत्ति द्वारा वर्गहीन समाज की रचना ही गांधीजी का जीवन-उद्देश्य था। गांधीवाद सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सत्य और अहिंसा की ही आधारशिला पर खड़ा है जिसके प्रेम, त्याग, अपरिग्रह और सन्तोष मुख्य अंग हैं। आज गांधी और महावीर नहीं हैं किन्तु आज भी हमारा देश वैयक्तिक व्यवहार में ही नहीं अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति निर्धारण में भी अहिंसा तत्त्व को मौलिक रूप से स्वीकार करता है।

जैन अहिंसा भारत की ही नहीं अपितु विश्व की महान संस्कृति का प्रमुख घटक होने की क्षमता रखती है। क्योंकि इसका संदेश किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिये न होकर दुनियां की समस्त मानव जाति के लिये है। अहिंसा की प्रकृति प्राकृतिक है। सत्य और अहिंसा जैसे विराट सिद्धान्तों के पीछे जात-पात, ऊंच-नीच के बन्धनों को जोड़ना मनुष्य की भारी भूल रही है। आग या शूली जैसी कसौटी पर खड़ी होकर भी अहिंसा सिद्धान्त ने अपने विरोधियों पर, अपने अपराधियों पर जिस तरह से करुणा के आंसू बरसाये, जैन संस्कृति बड़े विश्वास के साथ उन आंसुओं की अर्चना में श्रद्धा का उपहार चढाती है। यही कारण है कि अहिंसा से लेकर अपरिग्रहवाद जैसे धार्मिक सिद्धान्तों को तीर्थंकरों ने किसी धर्मग्रन्थ से नहीं अपितु जीवन के अनुभवों से दुनियां को दिया। आज जो वर्गवाद, समुदायवाद, धर्म के तथाकथित ठीकेदार कदाग्रहों के

नाम पर अहिंसा का विरोध करते हैं वे भारत को दुबारा हजारों वर्ष पीछे उस युग की तरफ लौटाना चाहते हैं जो मूक प्राणियों के रक्त से रंजित था, और जिसके लिये जैन संस्कृति को भारी विद्रोह करना पडा। हालांकि मैं व्यक्तिगत रूप से इस बात से सहमत नहीं हूँ कि जैन धर्म या बौद्ध धर्म का आविर्भाव वैदिकों की हिंसक संस्कृति के विरोध में हुआ। क्योंकि वैदिक संस्कृति को कथमपि हिंसक संस्कृति नहीं कहा जा सकता। हां यह अवश्य था कि उस समय यज्ञ यागादि में हिंसा का बोलबाला था जिसमें एक विशेष वर्ग या एक विशेष परिस्थिति को ही हिंसा का जिम्मेदार ठहराया जा सकता है न कि समस्त वैदिक संस्कृति को। वेदों में हमें अनेक मन्त्र ऐसे मिलते हैं जिनमें हिंसा को महापाप एवं घोर नर्क का कारण कहा गया है। ऋग्वेद का ऋषि कहता है- हे मित्र ! जो पशु का मांस खाता है उनके सिर फोड डालो।^५ हे अग्नि! मांस खाने वालों को अपने मुंह में रख^६ आदि। अतः जैन धर्म की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड या वैदिक हिंसा के विरोध में हुई, ऐसा कहना तथा वेदों को हिंसा का समर्थक कहना वेदों की प्रकृति के साथ अन्याय होगा। जैन संस्कृति का उद्भव उस समय की मांग थी, किसी के विरोध की उपज नहीं थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन संस्कृति जो विश्वजनीन और सार्वभौमिक है, दैववाद, भाग्यवाद एवं ईश्वरवाद की गुलामी से मनुष्य को मुक्तकर उसका मनुष्यत्व के सर्वोच्च सिंहासन पर अभिषेक करती है। अन्यान्य धर्मों में जहां ईश्वर कर्मफल प्रदाता था वहां जैन धर्म ने वह अधिकार ईश्वर से छीनकर उसे मनुष्य के हाथ में दे दिया। जैन संस्कृति का ईश्वर वह मनुष्य है जो मनुष्य का आदर्श है। जब तक मनुष्य का अपना अनुभव मिथ्यावाद या कषायों के अन्धकार के नीचे दबा रहेगा, तबतक उसे किसी भी तरफ मोड़ा जा सकता है, उसकी मनोवृत्तियों को दूषित किया जा सकता है, किन्तु एक बार अहिंसा की ज्योति मन में जली, कषायों का शमन हुआ फिर सम्यक्त्व का आलोक परमपद का दर्शन करा देता है। इसी महान उपकार को लक्ष्य में रखते हुए जैन संस्कृति ने अहिंसक संस्कृति का प्रणयन किया जो महावीर की विश्वमानवता को विशिष्ट देन है।

सन्दर्भ:

१. प्रबन्ध-प्रकाश, भाग-२ पृ० ३
२. ईशावास्योपनिषद् १-१
३. तत्त्वार्थ सूत्र-७/१३
४. आचारांग- १/२/३/६३ (जैन विश्वभारती से प्रकाशित)
५. ऋग्वेद १--८७-१६
६. ऋग्वेद १०-८७-२

English Section

- *The Role of Ahimsā in Health Care Ethics*
- *Medical Ethics in Ancient India*
- *The Jaina Concept of Ahimsā and the Modern World*
- *Political Aspect of Non-violence*

THE ROLE OF AHIMŚĀ IN HEALTHCARE ETHICS

Professor Cromwell Crawford *

1. Historical Overview

“*Himsam mā kuru*” - do no injury. This is the moral mandate of Hindu medical ethics. The Sanskrit term (a ‘not’, and *himsā*, ‘harmful or injurious’) means ‘not injure or harm’. The Hindu maxim is older than its counterpart found in the Hippocratic Oath: “*primum non nocere*” - first do no harm, and is also more ethically nuanced.

Most Hindu cults consider *ahimsā* a cardinal virtue and the essence of religion, as expressed in the famous phrase, “*ahimsā paramo dharmah*.” It affirms reverence for life and the avoidance of injury.

Premonitions of *ahimsā* can be detected in early Vedic times, some 1500 to 1000 B.C.E., though admittedly the dominant values of the Aryan settlers were shaped by their need for territorial conquest and the struggle for power. Three formative principles provide the soil for later seed to be sown : *Ṛta* (Eternal Order), *Satya* (Truth), and *Tapas* (Spiritual Fire)}

In its cosmic aspect, *Ṛta* signifies the Law of Nature which imposes order on chaos and creates aesthetic form; and in its social aspect it stands for Moral Law which produces goodness.² As part of *Ṛta*, *Satya* means integrity, and as ultimate Reality (*Sat*), it is spiritually realized. *Tapas* supplies the internal combustion to lift humans from the state of nature to the divine state by arousing the

*. Department of Religion, University of Hawaii (USA)

higher intellect (*dhi*). The person so aroused becomes twice-born (*dvija*), and is endowed with the qualities of fire (*tejas*), luster (*varcas*), and soul-force (*ojas*). *Rta* and *Satya* function as the goals of Vedic religion and culture, and *Tapas* as the means. Together they represent the core values around which individuals must live their lives. In his graduating address the teacher summarizes all that is worth remembering: *satyam vada, dharmam cara* (speak the truth, follow *dharma* (*Rta*)).³

In terms of beneficence and maleficence, clear divisions are made with emphasis on the values of truth, justice, goodheartedness, friendship, and the notion of *svasti* (*su+asti*) or good existence, which combines physical, mental and emotional values. On the other hand, there is a severe side to Vedic ethics which fights for the preservation of life against those who would do harm.⁴

Precursors of *ahimsā* are found not only in the spiritual and moral values of the Veda, but also in its material and physical values. The womb is conceived as a metaphor of creation and is viewed mystically as the place where the Supreme Being takes birth. Given the sacredness of the womb, abortion is dubbed a heinous crime, and charms are used to prevent miscarriage. Aryans sought to avoid premature death and celebrated life in its many facets. Longevity is prized:

For a hundred autumns, may we see,
For a hundred autumns may we live,
For a hundred autumns may we know,
For a hundred autumns may we rise,
For a hundred autumns may we be,
For a hundred autumns may we become,
Aye, and even more than a hundred autumns.⁵

Prayers are offered for health of body and spirit:
May there be voice in my mouth, breath in my nostrils,
Sight in my eyes, hearing in my ears;

May my hair not turn grey or my teeth turn purple;
 May I have much strength in my arms.
 May I have power in my thighs, swiftness in my legs,
 Steadfastness in my feet.

May all my limbs be uninjured and my soul remain unconquered.⁶

In similar chorus, Agni is invoked for health and intellectual vigour: “Thou, Agni, art the Protector of the body, protect my body....Thou Agni, art Bestower of intellectual brilliance, bestow on me intellectual brilliance....”⁷ Food is lauded: “I glorify Food that upholds great strength.”⁸ Waters are praised: “Gracious be divine waters for our protection, be they for our drink, and stream on us bliss and happiness.”⁹ Energy is elevated: “Thou art energy, give me energy; thou art manliness, give me manliness; thou art strength; give me strength; thou art vigour, give me vigour; thou art wrath, give me wrath; thou art conquering power, give me conquering power.”¹⁰ And finally, the gods are supplicated:

May we, Devas! Hear with our ears what is good,
 And, holy Ones! See with our eyes what is good,
 And praising you with steady limbs and body
 Enjoy the divinely bestowed term of life.¹¹

These passages illustrate that while it is true that “the need of the Aryan settlers for more territory and the subsequent ambitions of rulers precluded the general acceptance of the practice of *ahimsā*,”¹² it would be misleading to suggest that the Vedic *mantras* are “only formulae for rituals.” Bose is correct that “the people not only performed rituals with the *mantras* but also lived according to them”; and in those values we see the lineaments of *ahimsā*.¹³

In time the optimistic spirit of Vedic religion aimed at living long happy, healthy lives, did indeed succumb to sacrificial ritualism. This trend was reversed with the composition of the Upaniṣads, beginning around 700 B.C.E. In the Upaniṣads the

ethical ideal is self-knowledge. The motivation behind this introspective search is the fundamental idea running through the early Upaniṣads that underlying the external world of change and decay there is an unchangeable reality which is identical with that which underlies the essence of a person.’¹⁴

The *Chāndogya Upaniṣad* spiritualizes the notion of sacrifice and images life as a Soma festival in which gifts presented to the priests are in the form of “austerity, almsgiving, uprightness... truthfulness” and non-violence.¹⁵ Incidentally, this is the sole reference to *ahimsā* in the Upaniṣads. It underscores the fact that while the notion of non-violence was probably conceived in the Upaniṣads, credit for its popularization must go to the Jains and the Buddhists, and the reforms of Emperor Aśoka. Mahāvīra of Jainism (died about 468 B.C.E) and Gautama the Buddha (died about 483 B.C.E.) are two of the world’s greatest spiritual teachers. They lived close to each other in north-eastern India during the reign of Bimbisāra (5 B.C.E.). It is all the more surprising that these foremost champions of *ahimsā* were in fact members of the warrior class.

The message of Mahāvīra that had a profound and pervasive impact on the religion and culture of India was that all matter possessed living souls, and that therefore killing and violence were evil. Thus, equality provided the rationale for non-violence. P.S. Jaini confirms: “*ahimsā* rests upon the knowledge that all beings, even the most insignificant ones, possess an immortal soul, capable of attaining perfection. This seed of perfection, called *samyaktva*, is the single most sacred thing for the Jains. Upon this foundation he has built a very elaborate network of holy practices for the realization of his true nature.’”¹⁶

From the second Tīrthānkara Ajitanātha, to the twenty-third Tīrthānkara Pārśvanātha, the Jaina tradition taught four vows, the first of which was non-violence. The other three vows are extensions of *ahimsā*, and together they form a code of conduct that is

directed toward equanimity and the Three Jewels (ratna-traya) of Right Faith, Right Knowledge, and Right Conduct.

Ancient Jaina texts explain that violence (*himsā*) is the intention to harm, and that the absence of compassion makes actions violent. Mahāvīra said: “You are that which you intend to hit, injure, insult, torment, persecute, torture, enslave or kill.”

The supremacy of human life does not reduce non-violence to social considerations. According to the *Ācārāṅga Sūtra*: “A wise man...should know and consider the happiness of all things. For nothing is inaccessible to death, and all beings are fond of themselves. .they shun destruction and cling to live...to all things life is dear.”¹⁷ Biologist H.J. Campbell thinks this accords with modern Scientific views inasmuch as all animals are pleasure seekers.¹⁸

One distinctive practice of Jains is vegetarianism, based on compassion for (*Jīvadayā*). Their diet is limited to the use of one-sensed life in the form of vegetables. It is an interesting coincidence that the Pythagorean circles in which the Hippocratic Oath “do no harm” originated (6th. century B.C.E), were also forbade the killing of animals. Moreover, in common with the Indians, the Ionian philosophers believed in the immortality and transmigration of the soul.

Ahimsā is also the first principle of Buddhism. The Buddha opposed Brahmanical sacrificial rituals on the two-fold grounds of cruelty to animals and also because of their inability to secure the objects of their intent. He taught that all beings undergo rebirths and experience suffering. Hence the admonition of the *Dhammapada* : “All men tremble at punishment, all men fear death. Likening others to oneself one should neither slay nor cause to slay.”¹⁹

Aśoka (c. 269-232 B C.E.) was the grandson of Candrapupta (c. 322-298 B.C.E.) who had expanded the Mauryan empire over North India to Afghanistan. Aśoka went further. He extended the

empire so vastly that it was only Aurangzeb in the 18th century who controlled as much of the land. All of this portended well for Buddhism when Aśoka became the first king to patronize the movement. He left records of how he applied Buddhist values to affairs of state. In his thirteenth Rock Edict (c.255 B.C.E.) he records how his reign began with a war in which many people were wounded, deported or killed. Expressing his deep remorse, he says that never again will he wage aggressive war, though he does reserve the right to defend himself if attacked. The majority of Indians did not embrace Buddhism, but neither was conversion necessary because Buddhist values were Hinduised and even when the ruler was forgotten, his ideology ruled.

Hinduism of the later times emerged from the Brahmanical religion of the Vedic age during the political turmoil that lasted from 150 B.C.E. to 200 AD. The Vedas remained as the living scripture for most people, but with pressure from the heterodox movements of Jainism and Buddhism, tradition was redefined and reformulated in a new genre of literature known as the *Dharmaśāstras*. The *Manusmṛiti* (3rd c. B.C.E.) is best-known among these texts. It includes *ahimsā* as one of the five great principles to be followed by all persons.

Subsequently, theistic movements grew out of the Hindu tradition. Kṛṣṇa, identified as an incarnation of god Viṣṇu, began to dominate the religious scene, as told in the *Bhagavadgītā*. In its chapter on true austerity (XV 11) it divides the cardinal virtues into categories of austerities of body, speech, and mind. Constituting the austerity of the body *ahimsā* is given prominence.

By the end of the fourth century A.D., six systems of philosophy arose, partly as apologetics against heterodox assaults upon the dogmatic foundations of traditional Hinduism. In place of the experiential approaches of the Upaniṣads and Epics, a path of rigorous philosophizing was followed. All systems based on reason were recognized as *darsanas* or “points of view” (*dṛṣ* = “to

see”). Hence, the six classic systems are regarded as six points of view from which the single orthodox tradition may be considered. Common ethical concepts are enunciated which provide a basis for their orthodox character - *avidyā*, *karman*, *dharma*, *saṁsāra*, *jīvanamukti*. A knowledge of these key concepts quickly reveals that, individually and collectively, they supply the underpinnings of *ahimsā*.

We take a single example from the Yoga System of Patañjali. It emphasizes yogic training for saving knowledge in terms of the Eightfold means (*aṣṭāṅga*) of Yoga.²⁰ Among these eight accessories, two stand out for their ethical import - *yama* (restraint) and *niyama* (observance).

The first ingredient of *yama* is *ahimsā*, which then provides the ethical framework for all other virtues. *Ahimsā* is more than non-violence, it is non-hatred (*vairatyāga*). Its scope is universal. It is “not limited by life-state, space, time and circumstance.” Just as *ahimsā* is normative for goodness, it is also normative for evil.²¹ “Sins are the causing of injury to others and all the rest.” Moral ramifications of evil deeds are analysed in respect to agent, cause, scope, and consequence. Medical implications of this analysis can be far-reaching: [Sins] are done, caused to be done, and permitted to be done; they are preceded by desire, anger, and ignorance; they are slight, middling, and intense; their result is an infinity of pain and unwisdom.”²²

This brief excursus into the origin and development of *ahimsā* highlights the fact that non-violence is like a golden thread that runs through the entire fabric of Indian religion and culture, woven over some 3000 years of history. The texture of this thread is spun in the spirit of renunciation, which is the most characteristic path for attaining mokṣa. The progressive practice of renunciation internally produces peace of mind and externally transforms behaviour. This gradually produces empathy for all life, timelessly captured in the maxim: *hiṁsam mā kuru* (do no harm). The Indian maxim

not only predates its Western counterpart, *primum non-nocere*, but is embedded in philosophies that are richly nuanced, giving it the degree of flexibility demanded by diverse clinical situations. E. W. Hopkins sums up the sentiments of historians of comparative cultures:

There is in India a doctrine called non-injury, which in some regards transcends any ethical teaching to be found in Christianity as known in America. It is the gentle doctrine of harmlessness, which more than covers the precept of the catechism to “hurt nobody by word nor deed,” for it means that it is a sin and a sin worse than lying, or stealing, needlessly to maim or kill any living creature. This is not a teaching of Christianity, though it has been engrafted upon it and finds expression in a small degree in the Society for the Prevention of Cruelty to Animals, the very existence of this society being, however, an indictment of ordinary practice. This ancient rule of Hindu ethics embodies towards all animal life a sympathetic attitude which repels the robust West and is excluded from its “manly virtues.” To kill for sport is a commendable amusement practiced by clergy and laity alike; to be a Christian gentleman one does not have to be gentle.”²³

This characterization of *ahiṃsā* as a gentle virtue which, in historic terms, developed as a repulsion against bloody sacrifices, is well made. It refutes the theory put forth by Norman Brown and others, that the idea of *ahiṃsā* would not have existed “but for the belief in the doctrine of rebirth,” and that it is “at bottom a magic-ritualistic tabu on taking life.”²⁴

Today *ahiṃsā* is a word found in the Oxford dictionary, chiefly due to the well-known role it played in the politics of Mohandas Karamchand Gandhi. Traditional Hinduism had iden-

tified reality with Truth (*satya*), which prompted Gandhi to expand *ahimsā* in such a novel way that it served not only the cause of morality but also of politics. By this strategy he was able to forge a unity of politics and religion. *What Gandhi did for politics this essay attempts to do for medicine, namely, to demonstrate how the moral principle of ahimsā can also serve as a medical principle.*

2. Ahimsā in Healthcare Ethics

1. The first use of the maxim, “Do no harm,” is to establish the healing arts as a moral undertaking. In the myth of the origin of Ayurveda, it is stated that when there was an outbreak of disease, sages “out of sympathy for creatures” convened a meeting on one of the “auspicious sides of the Himalayas.” All agreed that health was “the best source of virtue, wealth, gratification, and emancipation,” and that “diseases are destroyers” of these means of welfare, and of life itself.²⁵ Brahmā himself bequeathed the secret of longevity which was passed on to humans. The moral of the myth is that gods are models of the type of empathy humans should have for one another; that health and happiness are part of the natural order; that the quest for health is a moral obligation; that the Veda of Ayus, which is “the conjunction of body, sense organs, mind and self,” is “the most virtuous” because it attends to human needs for both here and the hereafter. Further, medicine is moral because it focuses on the patient as a person. In Western circles, this point is best articulated by Paul Ramsey. He states:

The problem of medical ethics that are especially urgent in the present day...are by no means technical problem on which only the expert...can have an opinion. They are rather the problems of human beings in situations in which medical care is needed. Birth and death, illness and injury are not simply events the doctor attends. They are moments in every human life. The doctor makes decisions as an expert but also as a man among men; and his patient is a human being coming to his birth or to his death, or being rescued from illness or injury in between. Therefore, the doctor

who attends the case has reason to be attentive to the patient as person.²⁶

Ramsey could be taking a page out of the Hindu medical manuals. The physician's Oath reads: "You shall assist Brahmins, venerable persons, poor people, women, widows and orphans and anyone you meet on your rounds, as if they were your relatives."²⁷ Again, when the Vaidya enters a patient's home he is instructed: "you should not engage your speech, mind and sense organs anywhere except the patient, his well-being and other entities of the patient's body, respectively."²⁸

The obligation to treat the patient with respect and to meet his needs follows from a philosophic understanding of the person. The individual is "an epitome of the macrocosm." Both the microcosm and macrocosm are manifestations of Brahman. Spirit and matter are not dichotomized, but belong to "one integral whole." They share a common constitution of six elements. The last element represents the spirit or self in the individual and it is equal to Brahman in the universe.²⁹ Similar to the office of the creator in the universe is the might of the individual soul in man. He also creates life by the act of impregnation.³⁰ Like the diverse things present in the universe, the different entities comprising the human being are too numerous to count. There is in man as much diversity as in the world 'outside'.³¹

The moral dimension of medicine is also embodied in its aims. The goal of medicine is to build a sound mind in a sound body. This provides the necessary condition for attaining a knowledge of Brahman that leads to spiritual freedom. It is this spiritual emancipation that provides medicine with its ultimate *raison d'être*. Doctors are especially obligated to see to it that the moribund patient is as pain free as possible and is left with a measure of spiritual clarity.

Finally, the moral dimension of medicine is present in the symbiosis between medicine and morals, arising out of common

philosophical assumptions. Ayurveda is a rational therapy which employs principles that are logical and scientific. Among these assumptions we highlight the following for their moral content :

- Man and nature are integrated as microcosm and macrocosm.
- The person is an integrated whole; not the aggregation of so many organs. Health is a positive state; not the absence of disease.
- Health is multi-dimensional: physical, mental, social and spiritual.
- Health and healing are acts of nature; hence the natural is the good.
- Medicine is essentially preventive and promotive, giving priority to caring above curing.
- A good life is measured by the quality of time; not the number of days.
- Death is natural; the opposite of birth, not of life.
- Health and disease, happiness and suffering, life and death are the consequences of an individual's *karma*, hence the emphasis on human responsibility .

Thus, in its primary usage the Hindu maxim obliges medical practitioners to view their calling as a moral enterprise, and is a warning against medical abuse in terms of personal profit and private aggrandizement. It states that the physician is not at liberty to use his or her skills and knowledge as they see fit, but must use them for the benefit of patients. Private interests are not denied, but these must be subordinated to human needs. Because medicine impacts every area of life like no other, professional obligations must supercede professional rights.

(2) A second use of *ahimsā* as a principle of medical ethics is in terms of risk-benefit ratio. It requires that the physician gathers the best information available on the basis of which to make an intelligent assessment of risks and benefits. It also requires that the

patient be given full information about the pros and cons of the procedure, so that the final decision reflects the patient's felt needs. Harms and benefit must be realistically evaluated on all relevant levels, without allowing monetary considerations to become the dominant factor. As an example : there is the question *whether a baby should be conceived to save the life of another child in the family*. The principle of *ahimsā* examines the case with reference to harm and benefit to all concerned.

First, an individual should be brought into the world and cherished for its own sake and for no other motive. Second, the above principle is not amended but added to when the baby that has been conceived can also serve a heroic purpose without harm to itself. In this case, the blessing of life is doubled. Third, it follows that the only legitimate purpose for amniocentesis during pregnancy should be to ascertain if the fetal tissues matched, so that the doctor could, on positive finding, save the baby's umbilical cord blood to give along with its marrow when the transplant is administered. In the event that the prenatal diagnosis yielded negative results, a decision to terminate the pregnancy would be deemed inhumane. That would clearly demonstrate that the baby had been conceived as a means to an end. There is no dilemma here; it is premeditated murder. On the other hand, even if it were found that the fetus did not have genetically compatible tissues necessary to serve as a donor, the *ahimsā* principle insists that the child must still be loved and cherished for its own sake.

(3) A third use of *ahimsā* as a moral principle is with reference to problems in which the *benefit goes to one person and the harm to another*. There are four such current problems for healthcare ethics : "allocation of scarce biomedical resources, non-therapeutic experimentation on subjects incapable of consent, sterilization of carriers of deleterious genes" and abortion.³² We select the problem of abortion.

On one side there is the pro-life group which stands for the

inviolable right to life of the fetus as a full human person, and is therefore antiabortion. On the other side there is the *pro-choice* group that stands for the woman's right to control her own body and its reproductive processes, and therefore opts for abortion-on-request. The reasoning of the principle of *ahimsā* steers a course somewhere in the middle.

Along with the pro-life people, Hindus believe in the spiritual creation of nascent life, which invests it with inviolable dignity and sanctity. The embryo or fetus is more than tissue in the mother'', it has a separate, individual life of its own. Just as there is no such thing as being "a little pregnant," gestation- from the first mitosis of the fertilized ovum-cell to birth - is one continuous process. To say that termination of the process is morally permissible at one stage but not at another is to truncate the untruncatable. Termination at an early stage may be safer, but it is no less the termination a person-in-being. The anguish of a pregnant woman may be real, but it is seldom commensurable with the fetus's life that is being taken.

At the same time Hinduism breaks rank with the pro-life group on the grounds that the right to life of the fetus ought not to be absolutized. In place of absolute rights, Hinduism advocates addressing competing rights and values. Ethical dilemmas arise in cases of rape and incest and when the mother runs the risk of grave injury or death. Hinduism is sensitive to the uniqueness of each situation, with its own moral tragedy. The best we can do in such situations is evil, but then it boils down to a question of degree.

In a pregnancy where the mother's life is in a balance, the principle of *ahimsā* places greater weight on maternal rights than on fetal rights. The adult human being, having arrived at a karmic stage in which there is much more at stake for her spiritual destiny, and in which there are existing obligations to be performed for family and society, is in a position to be favoured over an equal human being whose evolution in this life is by comparison

rudimentary, and who has not yet established a social network of relationships and responsibilities.

(4) Fourth, *ahimsā* functions as a humane alternative to current medical treatment of incurably ill persons. Traditional medical care gives priority to treating disease and the prolongation of life. When there is an increase of pain it is stoically accepted as the inevitable outcome of treatment that is aimed primarily at extending life. By contrast, the principles, values and techniques of *ahimsā* prescribe an alternative approach that aims at the patient's quality of life, existential meaning, and relief of suffering. Because the Hindu approach is personcentred, it does not elevate its comfort-oriented strategy above that of aggressive medical treatment, but leaves the decision to the patient.

It is this concentration of the doctor on the patient as a person, and not on the patient's underlying pathology, that truly distinguishes the Indian approach from that of traditional treatment. As Timothy E. Quill explains :

In the intensive-care unit, which represents the extreme of traditional western medical care, invasive, often painful measures are used to monitor and treat a patient's underlying disease. although every attempt is usually made to treat the person respectfully, the disease is the primary focus; not the patient.³³

However, one side effect of the comfort-oriented strategy of *ahimsā* is that pain reduction is often accompanied by life reduction. In that case, how can this be called strategy of *ahimsā* when the outcome is *himsā*? Proponents of *ahimsā* distinguish between effects that are directly intended and only permitted. They insist that the end of the direct intention must be good in itself. Such an act that is intrinsically good could bring about an anticipated, but unintended evil result, and yet not compromise its non-violent status. Roman Catholic theologians face a similar quandary and justify their position through the argument of double-effect. In both

traditions, violence is seen as the unavoidable by product of a good the physician is obliged to perform. Because his primary intention is solely to alleviate the patient's symptoms, he is absolved from responsibility for indirectly contributing to the patient's death.

(5) A fifth use of *ahimsā* as a moral principle is in the context of active voluntary euthanasia. The position of the American Medical Association on this issue is clear : mercy killing is "contrary to that for which the medical profession stands."³⁴ An opposite position is taken by the movement for physician-assisted suicide for patients with terminal illness. The first group invokes the sanctity of life; the second, the quality of life. The unitive philosophy behind the principle of *ahimsā* invests it with a prima-facie bias on the side of sanctity; at the same time Hindu ethics displays a certain tolerance and flexibility in the face of individual situations, intentions, and motivations.

Hindu tradition gives philosophic support for the right to suicide in terms of the principles of autonomy and rational choice, but this is only a religious option, permitted in the pursuit of higher goals. A spiritually enlightened soul often starved himself to death, but often he resorted to other forms of suicide, such as immolation, which required the assistance of other persons.

The case for physician-assisted suicide may be argued on the tradition's acceptance of assisted suicide on religious grounds. In principle the two practices are the same. The only difference between assisted suicide and active voluntary euthanasia is that in the case of the later the decisive deed is performed by another. On the level of intention, attitude, and outcome, both forms of participation are virtually the same. In a modern setting there appears to be no real difference between someone putting a lethal pill in the mouth of a quadriplegic wishing to die, and that individual performing that final physical act himself, had he the capacity to match his wish. In principle, assisted suicide as practiced by the ancient Indian sages and active voluntary

euthanasia are only instrumentally different, but are one in terms of ends and consequences.

When Gandhi was criticized for promoting the eradication of pests, for killing a rabid dog instead of allowing it a slow demise, and for killing a sick calf, he responded by distinguishing between *ahimsā* and non-killing. He says :

Ahimsā does not simply mean non-killing. *Himsā* means causing pain to or killing any life out of anger, or from a selfish purpose, or with the intention of injuring it. Refraining from so doing is *ahimsā*.³⁵

Gandhi taught that all violence is sinful, but violence that is inevitable may not be regarded as a sin. The sin in *himsā* lies not in merely taking life, but in doing so in the interests of one's perishable body. "But the destruction of bodies of tortured creatures being for their own peace cannot be regarded as *himsā*, or the unavoidable destruction caused for the purpose of protecting one's wards cannot be regarded as *himsā*."³⁶

Gandhi held that "taking life may be a duty."³⁷ We destroy plant life to sustain our bodies; in the interests of health we kill mosquitoes; and for the benefit of the species we destroy carnivorous beasts, and even perform manslaughter, yet we do not think we are being irreligious.

The next quotation centrally addresses our subject :

I see that there is an instinctive horror of killing living beings under any circumstances whatever. For instance, an alternative has been suggested in the shape of confining even rabid dogs in a certain place and allowing them to die a slow death. Now my idea of compassion makes this thing impossible for me. I cannot for a moment bear to see a dog, or for that matter any other living being, helplessly suffering the torture of a slow death. I do not kill a human being

thus circumstanced, because I have more hopeful remedies. I should kill a dog similarly situated, because in its case I am without a remedy. Should my child be attacked with rabies and there was no helpful remedy to relieve his agony, I should consider it my duty to take his life. Fatalism has its limits. We leave things to Fate after exhausting all remedies. One of the remedies and the final one to relieve the agony of a tortured child is to take his life.³⁸

Thus, by Gandhi's analysis, we do not violate the principle of *ahimsā* in the context of the benevolent though tragic taking of life when the well-being of the patient is our sole motivating force. In a modern setting this would only be undertaken in compliance with full ethical, medical and legal safeguards. Hence, the message of *ahimsā* for practitioners of a heroic style of medicine that cannot technologically detach itself from the delusions of immortality, and doctors who cannot distinguish between the prolongation of living and the prolongation of dying - that message is as relevant today as in the time of Mahāvīra and the Buddha :

Himsam mā kuru (do no harm).

References :

1. *R̥gveda*, X. 190, I in Abinash C. Bose. *Hymns from the Vedas* (Bombay : Asia Publishing House. 1965), p. 15.
2. *R̥gveda* V, V66.2
3. *Taittirīya Āraṇyaka* VII. II.R. Upaniṣad 1.II.
4. *R̥gveda* V.66.2
5. *Atharvaveda* XIX.67.
6. *Atharvaveda* XIX.60.
7. *Yajurveda* 3.17.
8. *R̥gveda* I.187.1
9. *R̥gveda* X.9.4.
10. *Yajurveda* 19.9.
11. *Yajurveda* 25.20
12. Margaret and James Stutley, *Harper's Dictionary of Hinduism* (New York; Harper and Row Publishers. 1977) p. 7

13. Bose op. cit. p. 9.
14. *Bṛhdāraṇyaka Upaniṣad* 2.5.114-15.
15. *Chāndogya Upaniṣad* 3.17.4.
16. P.S., Jaini, “*Jaina Concept of the Sacred,*” in *Perspectives in Jaina Culture and Philosophy*, ed. S.K. Jain (New Delhi : Ahimsa International. 1985), p. 105.
17. *Ācārāṅga-Sūtrā* 1.2.3.1-4.
18. H.J. Campbell. *The Pleasure Seekers*, Prelude II. in Stutley, opp. cit. p. 8.
19. X.129.
20. The Yoga Sutras of Patanjali in *Sacred Books of the East*. B.D. Basu ed. (Allahabad : Panini Office. 1924), p. 29 ff.
21. *Ibid...*11.31.
22. *Ibid...*11.34.
23. E.W. Hopkins. *Ethics of India* (New Haven; Yale University Press. 1924), p. 227.
24. Norman Brown, *Man in the Universe...* p.p. 65-66.
25. *Caraka-Samhitā*, Priyavrat Sharma. ed. (Varanasi : Chaukhamba Orientalia. 1981). Vol. I., Su. I. 3-17.
26. Paul Ramsey, *The Patient as person* (New Haven : Yale University Press. 1984). Preface.
27. Etziony. M.B., *The physician's Creed* (Springfield, II.I : Charles C. Thomas Publishers, 1973). p. 15.
28. Sharma, Op. cit. *Vimānasthānam*. VIII. 13.
29. *Ibid.*, Śarīrasthānam V. 5.
30. *Ibid*, 5.2
31. *Ibid*.
32. Albert Jonsen, “*Do No Harm,*” in *Cross Cultural perspectives in Medical Ethics*. R. Veatch, ed. (Boston : Jones and Bartlett Publishers. 1989). p.-206
33. Timothy E. Quill. *Death and Dignity* (New York : W.W. Norton and Company. 1994). p. 79.
34. “*The Physician and the Dying Patient.*” The American Medical Association, issued December 1973.
35. *Young India*, April 11.1926 op., 385
36. *Ibid*.
37. *Ibid*.
38. *Young India*. No. 18.1926. p. 385.



MEDICAL ETHICS IN ANCIENT INDIA

Swami Brahmeshananda*

A prerequisite for healthy human society is the ethical and virtuous life of its people. Degenerating of moral and ethical life in any field of human activity spells disaster for the future of that society. The medical profession in ancient India was inspired by high and noble ideals. The author, who is a monk of the Ramakrishna Order, Varanasi, cites many ancient Indian medical treatises to show how sacred was the work of the medical community.

Since time immemorial, in India the rules and regulations for different social groups and the code of conduct for people belonging to various professions were framed in such a way as to lead them to the highest spiritual culmination of their life. It is in accordance with the teaching of the *Bhagavadgītā* (18.45) that each individual can attain a high state of perfection by rightly following his duty or *Svadharmā*. The medical profession was no exception in this respect. Although its immediate aim was- the alleviation of physical and mental suffering, its ultimate aim was to help the patient, nurse and the physician to attain everlasting happiness and bliss. "

It is very likely that *Ayurveda*, the ancient Indian medical science, evolved out of religion. Historians are of the view that in remote past the only therapy available for ailments was spiritual so called *Daiva vyapāśraya cikitsā*,¹ comprising procedures and acts such as reciting incantations, chanting of hymns, keeping talismans, wearying gems, observance of vows and making atonements, offering gifts and donations, propitiating deities by offer-

* Former Physician, Ramkrishna Mission Hospital, Varanasi.

ings, going on pilgrimages, etc. Such acts are in vogue even today since psychic disorders are often seen to improve by them, and the persons performing them gain in physical and mental health. It is, therefore, natural that many of the religious values and moral codes would form part and parcel of the medical ethics in ancient times as well. In Ayurvedic texts one finds wholesome and ample instructions for a healthy and pious mode of life.

Definition of Ethics

Ethics is the science of moral values. Medical ethics consists of the moral principles which should guide members of the medical profession in their dealings with each other, with their patients and with society and the state.

In ancient Indian literature the word used for ethics was *Sadvṛtta*,² which etymologically means, the right physical, mental, and vocal conduct expected of the pious'. Caraka, the father of Indian medicine, advises everyone desiring peace and happiness to observe the rules of right conduct diligently. He who follows the ethical code, gains mastery over the senses and obtains a healthy body.³ He authoritatively advocates ethics as a part of personal hygiene. Vāgbhaṭṭa too, claims that man can attain long and healthy life, wealth and fame, in this existence, and glory and higheres after death, by following the ethical code.⁴

The ancient sages framed the rules of ethics and built up early Indian society in such a way that the character could be moulded from the very childhood and the individual could grow into a useful citizen. The ethical training began at home with the parents, was extended to the schools through the teachers, and continued in professional life later with the help of the wise and leaders of society.

The Aim of Indian Medicine

Although as a profession the medical practice provides a livelihood for the physician, the wise have condemned its being for that purpose only. Those who would sell their skills to make

a business out of the practice of medicine are like persons who would pursue a heap of dust, as it were, letting go a mass of gold. (*Caraka*, 1.59) Medicine must be practised, neither for wealth nor for fulfilment of worldly desires, but only out of compassion for creatures (1.58). There is no austerity higher than treating the sick. It leads to destruction of sins, accumulation of virtue, and benefits both here and hereafter.⁵

The physician must not undertake treatment of a patient motivated by his own love, lust or greed. Nor even friendship, enmity or affection for a kinsman should be a reason for giving his treatment. The expectation of earning a reward, or the acquisition of fame too, should not tempt the physician. Only one urge and aim that is, kindness and mercy, should prompt the physician to practise the art of healing. (*Kalyāṇa Kāraka*, 7:33-34).

The practice of medicine is never fruitless. Sometimes a physician may earn money. Sometimes he may get what he desires. Occasionally he may win fame or friendship. But even if he does not obtain any of these, there is bound to come to him, at least, the benefit of practical experience.⁶ As long as the earth is inhabited by human beings who cannot remain completely free from illness and disease, the physician need never worry about unemployment or starvation. (*Kalyāṇa Kāraka*, 7:37). The gifts of life and health are the highest among duties. Those benefited by such gifts may, out of gratitude, either praise the physician or pay him with due remuneration. In this way his needs of *dharma* (duty), *artha* (money), and *kāma* (desire) are fulfilled.⁷

An individual can be happy or unhappy personally and harmful or helpful to society. The ancient Seers not only set the above mentioned high aims and ideals before the individual, but framed the ethical code in such a way that the physician could both derive the maximum benefit from the pursuit of his profession and prove helpful, not harmful, to society. Thus the final aim of the ethical code was the attainment of harmony and equilibrium at all

the three levels, physical, mental and social. (*Caraka*, (1: 41).

Qualities of a Good Physician

According to Suśruta, the great ancient Indian surgeon, a medical graduate must meet the following standards for starting his practice. He must have learnt and mastered both the theory and practice of the art of healing, and must have obtained permission from the governing authority. He must wear clean white dress, which should not be ostentatious. He must remain clean shaven and tie his hair in a knot. He must be cheerful, noble, large hearted, well behaved, polite and friendly towards all creatures.⁸ While walking along the road he should proceed forward looking ahead, far and wide. On meeting others he must accost them first. He must always speak clearly without ambiguity and doubts, sweetly and ingenuously in a simple and ethical tone, avoiding controversies, and in accordance with the law of *dharma*.⁹

Kalyāṇa Kāraka lays down further qualifications of a physician. He must be a speaker of truth, a man of courage endowed with patience, blessed with a lucky hand that has achieved many cures, one who has witnessed and practised notable methods of treatment, and be one who does not get upset under any adverse circumstances. (7: 38). *Caraka* advises the physician to carefully assess his ability to treat a particular case before taking it up. (*Caraka*, 8: 86). This precaution is important, specially in the beginning of the career of the fresh graduate, not only for the patient, but also for the reputation of the physician.

According to *Caraka*, vast knowledge of medicine, extensive practical experience, dexterity, and purity are the four qualifications of a physician. (9: 6). A reputation as unfailing in prescribing appropriate medicines is another qualification. One who possesses the fourfold knowledge regarding cause, diagnosis, cure and prevention of diseases is fit to be appointed a royal physician, (9: 19). The effectiveness of medical knowledge (like any instrument or weapon) to a large extent depends upon the person who handles

it. Hence the physician must always continue to sharpen his intellect and increase his proficiency. (9: 20). Elsewhere Caraka enumerates six qualities of a successful physician as follows: Having knowledge, critical approach, insight into allied sciences, sharp memory, promptness and perseverance. To these he adds sharp intellect, practical experience, continued practice, success in treatment, and being in consultation with an experienced teacher. (9:21-22).

Since there is no limit to knowledge, Caraka advises the physician to try to learn every moment. According to Suśruta, study, discussion, perusal of foreign literature and devoted service to the masters of particular techniques are essential for gaining wider knowledge and improving skills. One cannot come to the right conclusion by studying just one aspect of a subject. Hence the physician must learn other viewpoints also to become proficient.¹⁰

Code of Conduct while Treating the Sick

A physician must not visit a patient at his residence uninvited and without prior intimation. On being invited he must go to the house of the patient and observe the portents and signs. He must not look at anyone other than the patient, and all his senses must be alert and concentrated on him. Every action of the physician should be precise and deliberate. (*Kaśyapa Samhitā*, 1.8).

The physician must not converse or make fun with the ladies of the patient's household, nor should he refer to their names disrespectfully. He should not sit with them in private, nor show excessive regard towards them.¹¹

A physician must not reveal the secrets of the household or the patient, nor spread broadcast the demerits of the family. (5.8). A patient may not have faith in his father, mother, friend or children but may open his heart to the physician. He must therefore, never expose the patient and must honour the confidence the patient has in him.¹²

A definite order must be followed while treating patient. First, the physician must examine the patient thoroughly before arriving at a diagnosis. Next he must decide the treatment and lay down the course of management. (*Caraka*, 20: 20). Vāgbhaṭṭa warns the physician against starting treatment without complete knowledge of a case, which could be responsible for the loss of art, fame, reputation or whatever other benefit the patient and physician may have derived.¹³

After initiating his treatment, the physician should observe the progress of the disease and the condition of the patient at frequent intervals, and should modify his treatment accordingly. (*Caraka*, 8:3J). The rules and the order of prescribing medicines as laid down in the scriptures must be followed. Medicines of one's own invention must not be prescribed. (*Kaśyapa Samhitā*, 1: 8).

If the condition of the patient deteriorates or serious complications arise he must not be told directly. Nor should the relatives of the patient be told directly about the impending death, which may badly shock them. Instead, the physician may indirectly hint at the prognosis thus: "None is immortal in this transitory world, nor can one escape death. However, disease can be cured and suffering can be alleviated"¹⁴ Or, "The physician is not the master of life. He is the knower of diseases and the reliever of suffering."¹⁵

During emergencies, every available means must be employed, with minimum loss of time. If the life of the patient is threatened the physician must inform the relatives and friends of the patient and start his treatment after obtaining their consent.¹⁶

General Rules of Social Conduct

With a view that a physician should be an ideal citizen, numerous rules of conduct have been laid down for him in the ancient literature.

The physician should never harbour ill will towards fellow physicians or get into confrontations with them.. If need be, he may

join them in treating a case and should not hesitate to consult them in deciding the diagnosis and treatment of a case. He must pardon the unethical conduct of his colleague, or politely try to set him right. But if the envious opponent continues to criticize his procedure, he must defeat him by his knowledge and experience. Even while defending himself the physician must avoid harsh words and use ethical language. He must always be suggestive and never direct. (*Kaśyapa Samhitā*, 1.9).

Advertisement or self-aggrandizement by a physician was poorly esteemed in ancient India. Self praise is not only unpleasant to others, it is disagreeable also to a really deserving but dignified physician. (*Caraka*, 8 13). With a view to decrying such boastful physicians, Caraka gives a picturesque, description of how such egoistic fellows engage in broadcasting their own virtues and abusing others. (29.9).

A physician is entitled to due remuneration for his services, and it is enjoined that none should go to a physician empty-handed¹⁷. According to Caraka, anyone who does not repay the help obtained from a physician remains under an eternal debt. (1.55). On his part, the physician must treat Brahmins, preceptors, the poor, friends, wandering monks, orphans, and other such people in need, gratuitously.¹⁸

The physician must not attempt treatment of a patient whose death is certain or who has an incurable disease, or if he has not the necessary facilities for treatment.¹⁹ Often in ancient India, charitable physicians supplied medicines, to poor patients who could not afford them. Although it appears inhumane to deny help to anyone seeking it, there were certain restrictions on physicians in ancient society. Caraka, for example, advises physicians not to treat enemies of the state or the ruler. The list, of persons debarred includes the mentally abnormal, the wicked, people of blemished character and conduct, those who had not vindicated their honour, and those who had no guardians, especially women. (8: 13).

Apart from voluntary gifts from patients, physicians were paid by the state according to their merit and efficiency. They were liable to punishment if they committed mistakes or indulged in unethical practices, the severity of the punishment varying with the seriousness of the offence.²⁰ Caraka also describes the malpractices of quacks and decries them in uncompromising terms. He considers them murderers in the guise of physicians, who introduce and spread diseases rather than curing them. They flourished because the government failed to curb them. (29:8).

Summary

It will be noticed that the above rules of moral conduct culled from various sources, aimed at making a physician not only a perfect physician but a perfect human being. Vāgbhaṭṭa has briefly summarized the qualities of an ideal physician as follows : A physician must be steadfast, dignified, patient, truthful, good looking, well-read, master of his subject, and a knower of the effect of time. He should honour the teachers and treat the orphans and the sick as his children. He must visit the patient only when invited and with pure intentions. In the patient's house, he must pay attention only to the patient and to nothing else. He must thoroughly examine the patient, arrive at a diagnosis and plan the line of treatment. He must not disclose the secrets of the patient, must not waste time during emergency and must be capable of handling serious and urgent cases.²¹

A physician has to be friendly to all, compassionate towards the suffering, pleased with the healthy, and indifferent towards the wicked.²²

Qualities of the Nurses and Attendants

According to ancient Indian medicine, the patient, physicians medicine and nurse are the four limbs of medical treatment. (*Caraka a*, 9: 23). The ideal conditions for each of these four limbs to contribute the maximum are described in the ancient medical literature. We have already seen the qualities of a physician;

According to Caraka, purity, efficiency, having the knowledge of the art of nursing, and devotion to the physician, are the four cardinal qualities of a good nurse. (9: 8). According to another text the nurse and attendant of the patient must be strong, forbearing and forgiving, desirous of doing good to others, efficient, polite, and well-behaved. (*Kalyaṇa Kāraka*, 7:41). He or she must be of clean habits, good-natured, kind-hearted, and proficient in other kinds of work like cooking, sponging and bathing the patient, preparing and administering medicines, ambulating patients and carrying goods from one place to another. Attendants and nurses must not be grumblers, and must be willing to do all kinds of work. (15: 7). Caraka is of the opinion that women nurses, especially those who are mothers of many children, are best suited to become nurses because of their constant, kind, and gentle manner. They have better understanding of patients are hard-working, patient, forbearing and able to stand excessive strain. Their common sense and presence of mind specially qualifies them for nursing difficult patients. (8:34).

Characteristics of an Ideal Patient

The third limb of medical treatment is the patient himself. It is needless to say that the treatment of a cooperative, intelligent patient is much easier, and considerably helps to improve the prognosis. According to Caraka, a good memory, willingness to follow the instructions of the physician, fearlessness, and not hiding any relevant information about his symptoms and disease, are the four qualities of a good patient. (9:7). He further states that one who takes a wholesome diet, who possesses healthy physical habits, who acts after giving thought and consideration, who is unattached to objects of sense enjoyment, who is charitable, truthful, same-sighted, forgiving, and who serves the learned, seldom falls ill. (2:46). Disease rarely strikes a person who leads an austere life, has a habit of meditation, and who engages himself in higher intellectual pursuits. (2 :47).

Caraka gives a long list of virtues which must be cultivated if one wishes to remain free from psychosomatic disorders. One must perform religious duties, be friendly towards all, pacify the angry, reassure the frightened, and be compassionate towards the poor and miserable. One must be able to make compromises and be forbearing of unpleasant words of others. One must have a peaceful disposition and root out hatred and attachment from oneself. (2;:473. One must not be driven helplessly by a restless-mind, nor become a slave to inordinate appetites of the senses. One must never act in a fit of anger or become over-elated or submerged in grief. One should neither become conceited in success nor be depressed in failure (8: 27). The *Samhitā* is replete with such instructions meant to foster the cultivation of charity, chastity, friendship, compassion, detachment and peace. (*Caraka*, 8 : 29)

Apart from the general ethical admonitions, Caraka gives detailed instructions about food, clothing, exercise, sleep, sex, relationship with women, and the like, which need not be elaborated here. Suffice to state in ancient India, physical and mental health were never considered separate from sane living. (8:17-28).

Conclusion

Each country has its own code of ethics. In India, where there are several systems of medicine practised, there are various ethical codes governing the members who practise under these different systems. Nevertheless, there are many principles common to them in the ancient medical ethics, as there are among the various codes of modern medical ethics. There are some important differences too.

The four cardinal aims set before the modern doctor are: the preservation of life, curing of illness and lessening of suffering, prevention of diseases, and the advancement of knowledge. As has been elaborated, the aims set before the physicians in ancient India, while including the above four aims, were far wider, loftier and nobler. They were no less than the spiritual emancipation and

eternal happiness of the patient, the nurse and the doctor, and the building up of a sane society.

It must be noted that the ethical principles and moral admonitions are incorporated into, and form part and parcel of, the body of such authoritative ancient medical texts as the *Caraka Samhitā*, the *Suśruta Samhitā* and others. In contrast, most of the texts of modern medicine are totally devoid of ethical instruction. Nor does Ethics form a part of the curriculum in modern medical education. The ancient system of incorporating ethics into medical education is worthy of adoption in modern times. This suggestion becomes all the more relevant in view of the fact that now a days there is seen a sharp decline in professional ethical behaviour. Let the modern medical men be reminded that "no greater opportunity, responsibility or obligation can fall to the lot of a human being than to become a physician. In the care of the suffering, he needs technical skill, scientific knowledge and human understanding. He who uses these with courage, with humility, and with wisdom, will provide a unique service for his fellow men and will build an enduring edifice of character within himself. The physician should ask for his destiny no more than this, he should be content with no less."²³

References

1. Jyotir Mitra, "*Religion and Medicine*". Lecture delivered at the 17th Biennial function of 'Ayurveda; Vijayavada, Andhra Pradesh.
2. Commentary of Chakrapani on *Caraka-Samhitā Sūtra*, 8 : 17 Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi 1984.
3. *Caraka Samhitā, Sūtra* 8.: 17-18
4. Vāgbhaṭṭa, *Aṣṭāṅga Hṛdaya, Sūtra* 2: 48. New Delhi: Motilal Banarasiidass 1990)
5. *Kalyāṇa Kāraka*, 7: 32; Sakharam Nemchand Granthamala, Solapur, 1940.
6. *Ibid.* 7: 36

7. *Kaśyapa*, quoted by Sharma Gaur, Pt. Damodar, in *Medical Ethics in Ayurveda, Sacitra Ayurveda*, June. 1962, p. 1032.
8. *Suśruta Samhitā Sūtrasthāna*, 10:3. Choukhamba Orientalia, Varanasi, 1980.
9. Subba Reddi, D.V. “*Medical Ethics in Ancient India*”; *J. Indian Medical Association*. Vol. 37, No. 6; 1961, p. 287.
10. *Suśruta Samhitā*, 4:7.
11. *Kaśyapa Samhitā. Vimānasthāna*, 1 8.
12. *Suśruta Samhitā, Sūtrasthāna*, 25: 43-44.
13. Vāgbhaṭṭa, *Aṣṭāṅga Saṅgraha*, - *Sūtrasthāna*, 2 : 31-
14. *Kaśyapa Samhitā*, 1:8.
15. *Bhaiṣajya Ratnāvalī*, 3: 15; ,Chaukhamba Sanskrit Sansthana, 1986.
6. (a) Vāgbhaṭṭa, *Sūtrasthāna* 23.
(b) *Caraka Samhitā* -}-3:176.
17. *Bhāva Prakāśa*, 5: 52.
18. *Suśruta Samhitā*, 2:8.
19. Subba Reddy, p. 187.
20. Kauṭilya, *Arthasāstram*, 4:1, 56-57.
21. Vāgbhaṭṭa, *Sūtrasthāna*, 2.
22. *Ibid.*, *Uttarasthāna*. 50.
23. (a) *Caraka Samhitā, Sūtrasthāna*, 9:3.
(b) *Kalyāṇa K+ārka*, 1:28.



THE JAINA CONCEPT OF 'AHIMŚĀ' AND THE MODERN WORLD

V.V. Menon*

It is universally acknowledged that, of all major religions, only Jaina religion has gone farthest in the direction of non-violence. One of the constraints on any religion is that it has to preserve the 'original' teachings of the 'founders' (who might have been divinely inspired) and interpret/re-interpret these teachings as new problems/issues/dilemmas crop up. A major challenge to all religions has been posed by the 'explosion' of scientific knowledge during the past four hundred years. 'Science' recognizes no authority and is changing continuously in the light of any new evidence, and therefore is "objective" in a certain sense. Scientific knowledge, by its nature, is not perfect at any time but is always more reliable than before. For instance, the concept of 'life', or a 'living being', has properly crystallized only about 50 years ago. The field of study of Science is "*observable natural phenomena*" (i.e., those which can be observed by any rational human being) and therefore, ghosts, 'soul', 'god' (or 'God') heaven, hell, etc. are not in the purview of Science; in this sense, Science is 'agnostic' rather than 'atheistic'.

Science is the driver of modern Engineering and Technology, whose artefacts are ubiquitous in modern life. Moreover, the modern legal system is affected in part by these advances. Modern medicine is continually faced with new ethical/moral dilemmas due to advances in Science/Engineering/ Technology.

* Retd. Professor of Applied Mathematics, Institute of Technology, Banaras Hindu University, Varanasi-221 005

I shall look at a few of the above issues, concentrating first on the concept of 'life', with a few examples (to serve as 'pointers') in the social, legal and medical fields. The issues are : "*Should the traditional religions be aware of relevant advances in Scientific knowledge?*" and "*Whether new knowledge requires any re-thinking/re-interpretation of old doctrines ?*"

Jaina religion defines '*Ahiṃsā*' through the words '*Jīva*' (जीव) and '*Prāṇa*'; (प्राण) for example,

“प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा” (तत्त्वार्थसूत्र-७/१३)

The words are necessarily vague because of the enormous variety of 'living beings' and of the mental states of these living beings. [That is why any '*sūtra*' (सूत्र) require explanations/interpretations (टीका/भाष्य)] I shall stick to the fundamentals and ignore whatever is available elsewhere in the religious tradition. (The first two issues impinge on traditional cosmogony/cosmology.)

What is the universe (or the world) made of ?

In ancient times it was imagined that everything was constituted by four or five 'elements':

Earth, Water, Air, Fire (Greek, Arab, Christian traditions)

Earth, Water, Air, Fire, 'Sky' (Hindu traditions)

During the last two centuries, Science has discovered (and '*proved*' in a certain sense) that there are nearly 102 'elements', out of which nearly 90 are 'stable'. These 'elements' are constructed out of "Proton, Neutron, Electron" which in turn are 'constructed' out of a few 'quarks' (which come in several 'flavours'); these discoveries are, respectively, nearly 100 and 30 years old. The most abundant element in the universe is hydrogen. All 'life' on the earth is 'carbon-based', and the other heavier elements (such as iron which is an essential part of human blood) are formed in 'large stars' which are recycled when these stars 'die'. [Thus, we are all made of star-dust.] Notice that all these 'discoveries' are based on purely *mathematical theories*; in fact, mathematics is the back-bone of

Physics. You could say that God (or Nature) is a mathematician.]

Theory of Evolution

The evidence for 'evolution' is overwhelming, though there are still several grey areas ('missing link', *exact* times of origin or 'bifurcation' of several species, etc). Starting with 'single-celled' organisms, invertebrates, vertebrates, etc., human beings evolved from 'lower forms'. In the beginning, earth's atmosphere did not have sufficient oxygen to support vertebrates. Several species (such as dinosaurs) disappeared, and many have also come into existence. [Evolution implies that the progression of living beings has been from 'lower' to 'higher' life-forms. Most of the major religions postulate just the opposite, e.g., that 'man' has been 'regressing' from a 'higher' plane to a 'lower' plane.]

Living being (जीव)

Since ancient times, attempts have been made to define 'life' through the 'obvious' properties. For example, the following properties have been used for several centuries: "A living being is one which

- (a) has a finite life (i.e., is 'born' and 'dies')
- (b) 'eats' (needs 'food')
- (c) 'grows' in the presence of food and 'dies' in the absence of food
- (d) 'breathes' ('transpires', (श्वास, उच्छ्वास, निःश्वास)
- (e) 'reproduces' (creates another 'smaller' entity like itself)
- (f) 'moves' (is capable of movement by itself)

However, this was not satisfactory: a perennial exception was 'fire'. Item (f) was removed by those civilizations which regarded plants/trees as 'living beings'. Is it necessary that *sense organs* (ज्ञानेन्द्रिय) exist in 'living beings'?

Jaina religion regards plants etc. as 'living beings' and forbids 'violence' against them. How then will one eat? This is managed

by having a hierarchy of 'living beings' according to their 'sense organs'; in other words, plants being low in this hierarchy, it is 'less violent' to eat them (in order to survive?) than to eat animals.

Modern Science has arrived at a better definition nearly fifty years ago "**Life (on earth) is DNA- based**", which achieved a great unification, consistent with the theory of evolution (and proving, *inter alia*, that all life-forms are fundamentally similar and related). It is difficult to classify a *virus* as a living thing because it can only 'reproduce' itself (by capturing the chemical factory inside a living cell), is RNA-based, and can survive indefinitely. However, plants and animals etc. are all 'living beings'. Moreover, all 'life processes' involve conversion of energy, whose end-product (heat) can be observed.

Prāṇa (प्राण) (Consciousness ?, Soul ?, Sentience ?)

By any yardstick (scientific or otherwise) this is the most difficult concept to define. It seeks to capture in one word too many diverse attributes such as:

- consciousness (the sense of "I")
- capacity for thought (not driven solely by instinct)
- capacity for *rational* thought
- making judgments
- sense of future (and therefore of past)
- sensations and feelings (existence of sense organs)
- sense of self-preservation
- altruism
- social intercourse (community feeling, etc.)

During the past two hundred years, great advances have been made by Science in understanding these attributes. It has become possible since about 1990 to study ("image") the living brain in action. But the brain is quite unlike the other organs; each of its activities are distributed over several regions. Thus, 'consciousness'

is still elusive. Where does it reside in the brain ? When does a foetus acquire it ? (This is the basic ethical problem with abortion at a late stage, or, with stem-cell research.)

Humanity has understood from ancient times that actions arise in thought and are expressed in words and deeds; therefore, the trinity of words :

मन वाक् काय
(मनसा, वाचा, कर्मणा)

Thought Words Deed

of which thought is "invisible" to others and can only be guessed by others. However, modern psychology during the last hundred years has discovered that thought is a complex process and it may also arise in the "unconscious"/"subconscious" part of the mind (i.e., the person may not even be aware of the actual cause/source of his/her thought). The words

प्रमाद कषाय ("negative feelings" ?)

may need further explication, in view of modern psychology and modern psychiatry.

Modern legal systems attempt to 'capture' (in reasonably precise terms) those 'bad actions' (including violence) which can be "objectively" measured or established "beyond a reasonable doubt". In other words, it is accepted that one can never be 100% certain of one's judgment because the available evidence is always incomplete and uncertain. But codification ensures some transparency and objectivity. [However, a major portion of 'ethics' will remain purely subjective, left to the individual's 'conscience'.]

"Sexual harassment" is an example of a modern moral dilemma related to **non-violence**; the concept of "**a person being treated as an object**" is a thoroughly modern concept. [Real "equality" of mankind is a by-product of Renaissance + Modern humanism, when slavery was recognized as a "sin" against human-

ity. **All the ancient civilizations had no problems with the 'second-class status' of slaves or enemies or women.]**

Let me turn to a class of issues for which the only way out of moral dilemmas (related to **non-violence**) seems to be the principle of

"for the greater good of mankind."

The classic situations (related to medical science) are as follows.

During war, or major accidents, the number of doctors/surgeons is too small to treat all the victims/patients (with serious injuries) in a reasonable time. The doctor has to make quick judgments to select those to be treated (i.e., those who have a fair chance of being saved by quick emergency procedures), and therefore condemning to death the others (who are too far gone, or whose surgical procedures may take a long time.) A similar situation arises in case of life-support equipment (which are always in short supply compared to the number of needy patients.)

A recent case is more interesting. A young (25-year old) promising chess player of Andhra Pradesh (Venkatesh) was suffering from an incurable disease spreading through his body. The prognosis was: "certain death within a few months". He wanted to donate all his organs to those who may need them. The doctor rightly refused (doctors are bound by the Hippocratic oath.) He went to Court, but there is (as yet) no law for such requests; as per existing law, it would be abetting suicide or committing murder of Venkatesh. He died in December 2004 (after a wait of two months to hear from the Court) and only his eyes could be 'harvested' for transplant. [This issue does not fall under the category of **'mercy killing'** or **Euthanasia** or **'voluntary suicide.'**]

There are frequent cases of a husband or a wife "walking out", i.e., abandoning the family (which includes children.) It is now known that young children or infants in a single-parent family grow

up with some psychological impairment. The question is whether the person who "walked out" has committed violence (हिंसा) on the child/children. What happens to your judgment if you are told that the person went away in search of 'mokṣa' ? Or, that the person went away to serve mankind ?

Modern technology has introduced new terminology like "preventive maintenance", "adequate precautions" and "due diligence"; if these concepts were not there, many of the "accidents" would be interpreted as "Acts of God" and no one could be held responsible or accountable. These do not fall under the usual definition of 'violence' (हिंसा). Think of the Bhopal Gas tragedy; was it 'violence' (हिंसा)? What would be your opinion if you are told that the factory dealt with a dangerous chemical (methyl isocyanate), that it was permitted to be located in a region with high population density, that it stored much more of the chemical than was stored in its 'sister factory' in USA, that the accident was on large-scale and occurred without warning, and that it manufactured an extremely useful product. If the Bhopal gas tragedy was 'violence' (हिंसा) according to the religious definition, who committed it and what was the 'प्रमाद' ? in it.

One final example in the 'long-term' and 'long-distance' problems of modern life. Suppose a Selection Committee appoints a teacher or an officer (e.g., a General Manager) or a clerk; call him Mr. X. You are told that the Selection Committee had functioned under 'extra considerations' (a "Source", say, or pressure from other quarters). Now, Mr. X during his service period of nearly 30 years, turns out to be incompetent and spoils the 'careers' of (i.e., gives long-term 'pain' to) a whole generation. It seems to be clear that Mr. X commits 'violence' (हिंसा), but it is difficult to find the 'प्रमाद' in this case (in fact, he does not know what he is doing). A further question is: "Has the Selection Committee committed 'violence' (हिंसा) ? These are the certain points which need serious discussion.

POLITICAL ASPECT OF NON-VIOLENCE

Dr. B.N. Sinha*

Political Science deals with state and its different functions and relations. Garies has defined political science, as

“Political Science considers the state, as an institution of power, in the totality of its relations, its origin, its setting (land and people), its object, its ethical significance, its economic problems, its life conditions, its financial side, its end etc. In short Gamer has told - Political Science begins and ends with the State”

A state consists of the following essential elements -

- i) Population
- ii) Territory
- iii) Government
- iv) Sovereignty

i) Population - No State can be imagined without population. It is population which establishes the state but members of few families are not sufficient to organize a state. It requires a large number of people. Plato, a great Greek philosopher has asserted that an ideal state should have five thousand and forty men, for its establishment. According to Aristotle the population of a state should neither be too large nor too small, so that it may be controlled efficiently. Rousseau, a modern social philosopher who has supported the direct democracy has assigned that an ideal state consists of ten thousand persons living in it.¹

ii) Territory - A particular territory is also needed by a state

**Former Reader, Deptt. of Philosophy, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi Senior Fellow, I.C.P.R., New Delhi.*

for its populations to stay. There are different communities of human beings but they are not treated as state because they have no separate and definite area without a particular territory which is very closely related to its government. The suitability of the government of a state depends on the area of its territory. The democratic government is suitable for the state having territory of small area. The government of Guild-Socialism suits to the state of middle area. The imperialism is suitable to the state of large territory. The territory is seen safe when it is not divided into different parts and is also surrounded by natural things like mountains or seas.

iii) Government - The government is that part of a state by which it attains its aims for which it is organised. The government is a sort of means through and by which common desires of the people living in the state are satisfied. It tries to maintain that favourable situations in which physical, mental, intellectual and spiritual demands of society are fulfilled.²

iv) Sovereignty - The sovereignty is the most important element of a state. A community may have other three elements as population, land and government but it cannot be named as state, without sovereignty. The sovereignty means power to rule over the nation. It is of two kinds - the internal sovereignty and external sovereignty. There can be no two sovereignty in a single state. All internal activities of a state are governed by the same sovereignty otherwise there will be a clash. Externally also a state possesses only one sovereignty through which it makes different relations with other states. In the absence of own sovereignty a state becomes slave and unworthy to be called a state.

Government

The government controls all activities of a state. But there are different theories on which the formation of government is based. According to the theories of the government formation the govern-

ment has four kinds :

- i) Monarchy
- ii) Dictatorship
- iii) Aristocracy
- iv) Democracy

i) Monarchy - In monarchy the king or queen is treated as the head of state. The king or queen plays the main role in state. Either king or queen possesses all powers utilized in the state. Bryce has defined monarchy in the following words.

“By monarchy, I understand thing, not the name i.e. not any state the head of which is called king or emperor but one in which the personal will of the monarch is constantly effective and in the last resort predominant factor in government”³

ii) Dictatorship - The dictatorship has been originated from the word ‘Dictator’. The dictator means that one who dictates or order i.e. the head of the state. In the government under dictatorship following characteristics are found.

- a) Ruling is possessed by a particular person or group of persons
- b) No place for opposition
- c) Strict centralization
- d) No freedom of press
- e) Strict rule based on fear and pressure

iii) Aristocracy - In the Aristocracy the power lies in the hands of a particular class which is treated as the super class of society. The aristocrats are considered superior to other persons by birth, intellect, property, religion and military power. So Mill has declared :

“The government which have been remarkable in history for sustained mental ability and vigor in the conduct of affairs have

generally been aristocracy”.

iv) **Democracy** - The democracy means power of people. Therefore, Abraham Lincon has defined it as.

“Democracy is a government of the people, for the people and by the people”.

All things of the state are in the possession of the people.

Attacking and capturing are very common features of nations. These are considered as the parts of political life of a state. These tendencies in political life have been coming from ancient time. The strong nation tries to capture the weak nation and to extend its own territory. Often a nation tries, do disturb the peaceful atmosphere of its neighbour.

Moreover, after going through the formation of different governments and their characteristics the positions of violence and non-violence may be observed easily.

The Negative form of Political Non-violence

To know the negative form of political non-violence it is necessary to know the violence happening in the ruling periods of different government.

Monarchy

The monarchy may be classified as (i) Crude Monarchy and Mild Monarchy. The Crude Monarchy is a cruel monarchy while mild monarchy is a kind monarchy. The crude monarchy may be placed in the class of violence while the mild monarchy may be put in the class of non-violence. The kind monarchy presents the positive form of political non-violence so it will be discussed further.

The Crude Monarchy

In the Tretāyuga of the Vedic tradition crude monarchy was established by Rāvaṇa who used to take blood as tax from deities. The social and ethical rules were violated by him when he had

stolen Sītā. He also used to provoke his relatives, subordinates, and servants to disturb saints and seers doing penance.

In the Dvāparayuga, Kaṁsa was a monarch who with a view to save his own life ordered his military to kill all children of his country, who are born on the birthday of the Kṛṣṇa. They killed six issues of his sister Devakī who with her husband Vasudeva was kept in jail. He also tortured his father by keeping him in jail who tried to prevent his criminal activities.

Duryodhana of the same period, a great villain of the Mahābhārata was a crude monarch who with the help of his fraudulent maternal uncle (Sakuni Māmā) tried his cousins to disown from their property. He also tried to kill them by putting them in the building made of wax (Lakṣāgrha).

Aśoka, though not unsocial and unethical like other ancient cruel monarchs, massacred thousand of people for the victory of Kalinga.

In the Mughal period Aurangzeb was well known for his criminal activities. He confined his father Shahajahan in order to disown him from throne. He became king by force not by tradition, According to the traditional rule a prince becomes the king after the death of his father or the former king. Aurangajeba also killed numberless Hindus with a view to extend and strengthen Islam. He destroyed so many Hindu temples and erected mosques on their ruins. He killed even his brothers due to the motive of capturing the throne.

At the time of Muhammad Shah Jaffar, the last king of Mughal empire English-people came to India and captured India by killing several Hindus and Muslims. They ruled over India upto 14 August, 1947 by torturing Indian people very badly. Since 15 August, 1947, India is a independent country. No doubt, India has obtained its freedom due to the Gandhian policy of non-violence, but it cannot be forgotten that thousand of people have sacrificed

their lives for this valuable achievement. Kshatrapati Shivaji, Maharana Pratapa, Laksmi Bie, Sardar Bhagat Singh, Chandra Sekhara Azada, Vismil, Khudhi Rama Bose, Subhasa Chandra Bose and so many other freedom fighters have sacrificed themselves. So it may be remarked that the history of Indian freedom begins with violence and ends with non-violence.

Dictatorship

The characteristics of dictatorship as discussed on the last page show that it is based fully on violence. In the dictatorship all powers are confined to a political person or a group of persons. So all decisions concerning nation are done by the dictator of nation or the head of nation. He orders whatever right or wrong he likes. The natives of nation cannot oppose the order of the dictator if there is anything against their social or political life, because they have no power to speak against dictator. Everything of the nation is found centralized because nothing can be done without dictator's sweet will. Normally, newspaper enjoy freedom to comment upon the activities happening in the nation. The comment may be for or against the person or rule concerned. But in the government of dictatorship the dictator does not want to be criticized. Therefore, he does not permit newspapers to write anything freely. The people living under rule of dictatorship are badly oppressed by dictator who simply care for his own order, not for the pleasure of public. Though there have been many dictators in the world - history. Mussolini and Hitler are well known for their Fascism and Nazism respectively.

Fascism

After first world war (1914-1919), Fascism was established by Mussolini in the Milan city of Italy, in 1919, against Marxian-socialism. The characteristics of fascism have been classified as (i) Positive and (ii) Negative. The positive characteristics mean the ideas which have been accepted by Fascism and the negative characteristics mean the ideas which have been negated by it.

(i) The Positive characteristics of Fascism

The following ideas or theories have been accepted by Fascism.

(a) Respect for state - Fascism respects the dignity of state. According to Fascism, individual does not matter in the state. Everything in the state is for state. The state is not for the individual but the individual is for the state. The state is the end while the individual is means to it. Individual is not free, in the state. If he is free, he is free only to that extent to which he has been allowed by the state. Simply necessary freedom is provided to individual otherwise all extra freedoms are abolished.

(b) Faith in Monarchism, Violence and Power - It is the right of state that it may extend its territory according to its needs. It may attack on other nations for its own benefit. It does not believe in showing any problem through peaceful process. It likes war. So Mussolini has said. "Fascism is from war and in war it must find its outlet".

(iii) Corporativism - In its beginning Fascism was in favour of syndicalism but after 1926 it came to believe in corporativism. It declared the necessity of the corporations represented by both labour organisation and the organisation of factory owners in all branches of the production. Though the corporations used to manage the total productions of the country, they were under the control of state.

(iv) Organic Theory - According to Fascism the system of state is an organic. As the body of a person has different organs like hand, legs, eyes, nose, etc. in the same way state is an organized form of different individuals living in it. But it has its own importance. As, for the safety of body its diseased and wounded part is removed, individual may be neglected for the betterment of state. An individual does not have his own separate existence as a part of the state.

The Negative Characteristics of Fascism -

There are five negative characteristics of Fascism.

i) Negation of Democracy - According to Fascism, in the government of democracy some middle class literate persons are

benefited while ordinary people are neglected. The leaders always think of their own betterment, they never care for the ordinary persons. So the poor people become poorer than before.

ii) Opposition of Individualism - In the fascism individuals have no importance. Everything is under state and nothing lies outside of it. So nobody can revolt against state. All social, political, ethical and legal issues of individuals are conducted by the state. One can develop his status by accepting the desire of state as his own desire.

iii) Refutation of the theory of Non-violence - The Fascism negate the theory of World Peace. According to Mussolini, the persons who talk of world peace are cowards. The world peace is totally ungenitive and unpractical. The enemy can be defeated by power not by peace. The Fascism compares peace with tank in which water becomes impure, without any movement. The improvement of a person depends on the disimprovement of others. Neither some society nor some state can develop in the absence of war. A man becomes coward when he thinks and talks about peace and compromise again and again.

iv) Opposition of Intellectualism - Fascism believes in feelings and not in intellect. In human life feeling is much more important than reasoning. One can achieve pleasure in his life due to his feeling not the intellect. Moreover it is not necessary that all decision may be accorded with reasons.

v) Negation of Internationalism - The notion of enhancement is the most valuable thing for the state and a state should do all things right or wrong for its own betterment. It should never think about the gain and loss of other countries. So in Fascism only nationalism matters not internationalism.

In this way Fascism has supported indolence openly.

Nazism

Germany was defeated in the first world war, in 1918 and was demoralized by friend nations which compelled it to give some

portion of its land to France, in Versailles conference. At that time it was under democratic government, which caused dissatisfaction and discouragement in the common people. But they were in favour of achieving the honour of their nation again. Hitler marked the situation and he organized National-socialism. He was fully supported by the German people and was declared as the reformer of Germany. Hitler established German Government under the ideology which was named as Nazism.

Characteristics of Nazism

Followings are the characteristics of Nazism :

i) Importance of Power - According to Nazism the main feature of state is power not justice. It believes in 'Might is Right'

ii) Importance of War - Hitler is also in favour of war. As he has asserted, it is necessary to participate in war, because no body can keep himself alive without war. So the right of living in this world may be achieved by participating in war. The person who does not fight has no right to live in this world.

iii) Negation of Democracy - The theory of democracy has been refuted by Nazism. According to Hitler democracy is like a rotten and filthy dead body. The democratic government is the government of fools, corrupts and slow movers.

iv) Only one Party - According to Nazism there should be only one party in the whole Nation. The person trying to organise any party other than the National Socialist German Worker's party may be punished for three years jail.

v) Military Rule - Nazism has favoured Military Rule, because it has already supported importance of power and war.

These all characteristics of Nazism have strengthened violence.

Aristocracy

The aristocratic government is not too injurious like the governments of crude monarchy and dictatorship but in it all people

of the state never treated equally. All powers of the state are reserved by a class of letral and wealthy person. The common people do not have any chance to participate in the ruling activities of nation. The ordinary persons simply follow the orders of autoerotic officers. Therefore, the mental development of common people is stagnated and they do not have any national feeling.

Misuse of Democracy

The democracy is the positive form of the political non-violence. But when it is misused it comes down in the category of political violence, which may be known in the following way.

Election

In democracy majority occupies an important place, which is known by election. M.L.A., M.P., Prime Minister, Vice-President, President etc. are elected who form the government of state. The election plays its role in some village committee as well as in parliaments but the election has it's meaning when it is performed through proper process. Ordinarily, election is managed in proper process, so that majority may be achieved. The dishonesty runs in this function in different ways such as -

a) Caste and Creed - In true sense, the merits and demerits of the person to be elected should considered as the basis of election. But generally people do not care for the merits and demerit of the candidate standing for a certain post. They count his caste and creed. On the basis of caste and creed undeserving candidate is elected and deserving candidate is neglected. The voters vote in the favour of that candidate who is of their own castes and creed. This castism is undoubtedly a form of social and political crimes.

b) Area (Kṣetravāda) - The feeling of area is also one of the wrong elements of election. Sometimes area plays its role in election. If the candidate belongs neither to the voter's caste nor creed, his area is considered for his ability to be elected. He is supported if he belongs to the area to which the voters belong.

c) Vote-purchasing - Votes or voters are also purchased. The poor and illiterate people do not know the value of their votes. They sell their votes for satisfying their needs. The rich persons give them some money, blankets, cloths, bottles of wine and make them ready to vote in their favour. Even the M.L.A. and M.P. sell themselves for certain amount of money or some posts while the government is formed. The different parties desirous to form the government purchase them in order to prove their majority.

d) Bungling by Election Officers - Some times election officers are also influenced by caste and creed. They favour the candidate of their own caste and creed. They are even bribed by the candidate and they allow him to do whatever right or wrong he wants to do in his own favour. In this way undeserving candidate collect more votes than the deserving candidate and is declared victorious.

e) Booth Capturing - This is the most harmful and humiliating way of election. The booth-capturing is done by using guns and pistols. The rich candidates take help from criminals by paying them a lot of money. The criminals capture all plain votes and put them in their boxes. This wrong way of getting votes not only damage the present election system but also establishes the foundation of future-crimes of different types. Because the candidates elected by the help of criminal persons also help criminals to be free from the punishment declared for their criminal activities. In this way leaders of nation who are expected to prevent the crimes happening in the society, support the criminals and crimes.

f) Only-Right - The democracy stands strongly on its two legs Right and Duty. It runs properly when its two legs-Right and Duty are treated equally by the public of democratic nation. Right and Duty are interdependent. They are supplementaries of each other. It has been also asserted that the right originates from Duty. So where there is no duty, there is no Right.

Our India is a great democratic country in the world, and fifty nine years have been passed of its independence but still it is a poor developing country. Its almost all problems of the past are going on in their old ways. It is because, we Indians always claim for our different rights, we never care for our duties. Everyday we strike against our government for various privileges but not a single day we talk of our duties. We never strike against government that such and such are our duties and we should not be debarred of doing our duties sincerely. Indian democracy is standing on its only one leg. So Indian democracy is too weak democracy. Though it is a semi-continent, it cannot stand with a small nation like Japan equally.

Increasing number of Ministers

In the democracy government is formed by the political party which proves its majority in the parliament. Some time non of the political parties participating in parliament finds itself capable for proving its majority. In this situation the biggest party form the government. All parties co-operating in the formation of government claim parties ministership according to the numbers of the members of party they have. As a result public the biggest parties among them is compelled to increase the number of minister so that all co-operating parties be pleased. The unnecessary increasing number of ministers becomes curse for the economy of state. All ministers enjoy luxurious life on the cost of money and other natives of the country suffer badly from different economic problems. It is also a type of violence that India is passing through.

Absence of National Feeling

The national feeling in the natives of a nation makes it strong. It encourages them to sacrifice themselves for the allround development of the nation. They face boldly different problems prevailing in the country. But the absence of national feeling damage, the whole nation, in different ways. In the absence of

national feeling, importance of individual interest matters much more than the common interest. The individuals always try for their personal development they do not care for national interest. They never hesitate to damage the national property in order to have their small achievements. In the absence of national feeling the nation and the national betterment have no meaning, no importance. So the state whether it is under government of monarchy or dictatorship or democracy becomes the place of various types of violence when it suffers from the absence of nationality.

The above discussed injurious activities in the political affairs must be removed by reformation or prohibition so that people may enjoy a happy life full of non-violence and peace.

The Positive form of Political Non-violence - Mild Monarchy (Rāma Rājya)

The mild monarchy like Rāma Rājya may be known as the positive form of political non-violence. Though Rāma Rājya comes formally in the category of monarchy government, informally to great extent, it is better than democracy etc. This is why Mahatma Gandhi has always preferred Rāma Rājya than other governments. Rāma, as Maryādā Puruṣottama, has sacrificed all privileges and pleasures of his life for the sake of people living in his kingdom. To know the importance of Rāma Rājya some of its ideals may be discussed here.

Detachment to throne

It is very common in the monarchy government that successors quarrel among themselves for capturing the throne. Sometimes they even kill their predecessors. In the democracy also leaders, by hook or crook, by right means or wrong try to occupy the chair. But just opposite to it detachment to throne is seen in the Rāma Rājya. Daśaratha, the old king of Ayodhyā proposes to declare his eldest son Rāma as his successor and Kekayī, the step

mother of Rāma opposes it because she is desirous to see her own son Bharata on the throne. This causes conflict between Daśaratha and Kekayī. But as soon as Rāma knows the cause of conflict between his parent he very pleasantly becomes ready to leave not only the successorship of throne but also to live in the forest for 14 years to satisfy the demands of his step mother.

More than that when Bharata comes to know the situation, he also expresses his unwillingness to be on the throne. He runs after Rāma who is marching towards forest, for bringing him back to Ayodhyā with a view to get him enthroned. They meet too much affectionately and lovingly. But Rāma marches forward on his way after paying solace to Bharata who comes back to Ayodhyā and waits for 14 yrs, to see his elder brother Rāma on the throne.

Social Equality

Some example of social equality are found in the Rāma Rājya. Rāma while going to forest embraces a boat man (Kevāṭa), though he himself is a prince of Ayodhyā. He goes to Sabari's hut who is a lady of lower caste (Bhīlanī). She offers him plums tasted by her own self and Rāma relishes that very pleasantly. He also pays respects to Vibhīṣaṇa, the younger brother of his enemy Rāvaṇa. He helps Sugrīva who is being tortured by his elder brother Bāli. He gives importance to the words of all people living in his Kingdom. He sends Sītā, the queen of Ayodhyā to Vālamiki Āśrama, after her being blamed by a simple washerman.

Removal of disturbances on the Religious Path

According to Vedic or Hindu social organisation, it is the duty of a king or a Kṣatriya to provide protection to those persons who lead social and religious life. So Rāma kills many giants and demons who disturb saints in practising penances and performing religious functions. Though he kills them, his aim is to establish the

religious atmosphere in the common life of his state, not to kill them only.

War not for War sake

Rāma tries again and again to convince Rāvaṇa for the mistake he has done by kidnapping Sītā to Lanka and return her back without any hesitation. It is the demand of social religious and ethical rules. But Rāvaṇa refuses his advice. At last Rāma is compelled by the situation to fight against him. Rāvaṇa is killed with his several family members and Rāma captures Lanka. But he gifts Lanka to Vibhiṣaṇa by enthroning him. He never thinks to include Lanka in his own territory. Because his aim is to get his wife back not to defeat Rāvaṇa and to rule over Lanka.

Democracy

Democracy is one of the positive forms of political non-violence. The thinkers of political science have defined it in their own different ways. According to Bryce :

“Democracy is a form of government in which the ruling power of state is invested not in a particular class or classes, but in the members of the community as a whole.”⁵

Seely has defined democracy in very short as democracy is a government in which everyone has a share”⁶

But the definition of democracy given by Abraham Lincon is quite famous -

“Democracy is a government of the people, for the people and by the people.”⁷

These definitions very clearly emphasis on equality and the importance of people. According to Abraham Lincon, in the democracy, there is nothing except people. It is the form of government in which non-violence plays an important role. The

democracy in itself is a form of political non-violence.

Democratic Ideals

There are three democratic ideals -

- i) Liberty
- ii) Equality
- iii) Fraternity

These are interlinked and interdependent. There can be no liberty without equality and fraternity, no equality without liberty and fraternity and no fraternity without liberty and equality.

i) Liberty - An ideal society or state need full liberty. The full liberty means freedom of all. A full liberty or ideal liberty means that which does not disturb other's liberty. The man who wants liberty for his own sake, should never create hurdle on the path of other's liberty. The person who interlopes in other's affairs cannot claim for his own liberty. The liberty of a person is in the protection of other's liberty. Kant and Spencer have the same opinion. The liberty does not mean absence of control and lawlessness. But it lies in the self-control. The person who is self-controlled can enjoy his liberty in true sense. Liberty consists of self-control and tolerance. Only this type of liberty is needed by democratic government. In the democratic life all people care for the happiness of one another. Otherwise democracy may fail. The liberty means pleasures and property of all person living in the territory of a state.

ii) Equality - There can be no liberty without equality. In the absence of equality there will be difference between rich and poor, educated and uneducated, developed and undeveloped, controlled and uncontrolled etc. which will damage the liberty of society and also affect the national freedom. So without equality liberty cannot be claimed. The equality means removal of all special rights provided on the basis of birth, property, caste, religion and colour.

It also means to provide chances of development to all. The equality may be classified in the following way -

- 1) Equality of Possession
- 2) Equality of Law
- 3) Fraternal equality

1) Equality of Possession - Democracy is in favour of providing equal possession to all. But it does not mean that all persons have equal rights on all things. The equality of possession depends on the necessity and abilities of that persons living in the society. A man has right to have all things necessary in his life. His necessary demands should not be neglected. It is the duty of a society or government to provide a man all necessary things of his life, according to his ability.

2) Equality of Law - The legal equality is needed in a proper social organisation. In the equal situation all persons should be either awarded or punished equally. The favour done in any way disturb the democratic pattern of the state. So equality must maintained in all legal affairs.

3) Fraternal Equality - In theism it has been propounded that all person have been created by God and are also the parts of God. According to atheism all beings have physical body and conscious souls. So construction of all persons are alike, and causes the fraternal equality which strengthens the idea of fraternity in society.

4) Fraternity - The fraternity is the base of all equality found in the society. There can be neither liberty nor equality without fraternity. According to Aristotle equality lies in the every idea of friendship or fraternity.

In this way liberty, equality and fraternity on which

democracy is based presents it in the positive form of non-violence.

Gandhian Political Thought

Non-violence is one of the philosophical back grounds of Gandhism. The Gandhian political thought is also based on non-violence. Ghandhiji has asserted his ambition to establish the none-injurious states in the world, particularly in India. But he has not presented any form of the government based on non-violence. As he has stated - "I have not shown knowingly - what will be the form of the government based on non-violence. The people themselves will know, when it will be formed, and it will be different from other governments."⁸

The Gandhian political thought consists of the following factors-

- 1) Philosophical Anarchism
- 2) Stateless Democracy
- 3) Decentralization
- 4) Village Republic

Philosophical Anarchism

No concept of state has been accepted by Gandhiji because, in his opinion, state is the symbol of violence. In his words -

"The right of state depends on violence and where there is violence there is exploitation. Even in the democratic state it happens so. The state represents violence in the organised form and group. A man is with soul but a state is an instrument without soul. It can never be separated from violence from which it has been originated. In a state an ethical performance is also impossible. A state always orders and its orders are followed by it's subjects. The activity done willingly comes in the limit of ethical code. In the

state a man works like an instruments which is handled by some operator. He is not free to do anything according to his own choice. So in a state nothing ethical can be done by him.¹⁰ In a state neither non-violence nor morality may be maintained, Therefore, a state is of no use.

Stateless Democracy

Gandhiji wants to see all individuals free from the clutch of state, because state creates obstructions in the individual freedom. So he has said - "I doubt the enhancement of the power of state; outwardly it seems that the improving power of state removes exploitation of public in the state but inwardly it destroys the personality of a man, which is the main source of his all developments."¹¹

Though the stateless democracy is an ideal thing, it is very difficult rather impossible to establish. In the practical life there are several problems which cannot be solved without state. The destroying element of the society can be removed by state only. Yet state cannot be treated as an end., it is simply the means to remove hurdles of different spheres of life.¹²

Decentralisation

According to Gandhiji non-violence and decentralization can go together. There can be no government based on non-violence without decentralisation. The centralisation is established forcibly and makes the policy narrow. The individualism is developed by centralisation, because common desire is neglected in it. It damages the equality of society. The non injurious government depends on equality. Even in the democratic government centralisation plays damaging role. Therefore, centralisation is against Gandhism. Gandhiji has refused the theory of centralisation in both economic and political fields. As he has assigned national power whether it is

economic or political should be distributed equally.

Village Republic

The freedom should begin on the lower stage. So every village will be a republic. It will have full power. Every village will be self dependent. It will fulfil its all demands. It will manage for its all necessities so that it may be capable to protect itself from the whole world. In the village republic there will be no room for machine which centralises the power in hands of few people, by taking the working powers of labours in itself. The machine will be permissible as far as it will be helpful to everybody.¹³ Gandhiji has described the village republic in the following way.

“The ideal of my village freedom is this that every village will be a republic. To produce corn for food and cotton for cloth will be the first duty of a village.

There will be grass fields for animals and playgrounds for men. If there will be extra land, other beneficial except alcoholic things like tobacco, hemp plants, will be produced in that. The village will have its own drama hall, public hall, school and ponds for pure water. The Basic education will be compulsory up to the higher classes. So far as it will be possible, every work will be done on the basis of co-operation. The village society will practise the method of non-violence and non co-operation in stead of punishment. The village defence will be managed through villagers. The village will be ruled by a committee (Pañcāyata) of five members (Pañca). The Pañca will be elected every year on his prescribed qualification by all males and females of the village. The Pañcāyata will be the managing committee, executive committee and judiciary of the village. If my dream turns into reality the seven lac villages of India will have their strong democracy.¹⁴

Gandhian Method

Gandhiji has introduced his own method to apply in different

fields of human life, which totally supports the theory of non-violence. The analysis of end and means and *satyāgraha* are the main parts of his method, they supplement each other.

End and Means

Often people lay stress on end. The common people follow the theory - 'The end justifies the means.' Even western socialism has accepted this theory. But Gandhiji has opposed this idea vehemently. According to his ideology the means justifies the end. The means and end cannot be separated. The end is the developed form of means. He has said.

“The means may be likened to a seed, the end to a tree; and there is just the same unavoidable connection between the means and the end as there is between seed and the tree.”¹⁵

If the means are pure and proper the end will be naturally the same.

Satyāgraha

The Hindi word *Satyāgraha* means “Effort for Truth”. It is also named as Passive Resistance, Non Co-operation, Civil Disobedience. As Gandhiji has analysed it “*Satyāgraha* is to bear pain lovingly after being based on the truth”.¹⁶ In practice *Satyāgraha* may be seen in the following forms.

Non Co-operation - In the view of Gandhiji a man is tortured when he co-operates with the fellow troubling him. So he should not co-operate with him, if he wants to be saved from torture. The non co-operation may be performed as strike, social boycott, picketing etc.

Civil Disobedience - The civil disobedience is the expression of opposition in the form of non-violence or non-military. It is the last form of non co-operation and also too affective and fearful. Civil disobedience should be based on some right theory. It should

be performed with respect and restraint. It should never be accompanied with hate and enmity.

Hijarat - The Hijarat means to swift from the permanent residential place to some where else. It is for those people who are troubled badly by others and who have neither the power of non-violence nor the capability to fight violently to them.¹¹ Though Hijarat have been introduced by Mahatma Gandhi in the modern age, it is an old theory practised by Kṛṣṇa in the Dvāpara Age, who left Mathurā and came to Dvārakā for the peaceful life of his family and relatives.

Hunger Strike - The Hunger-strike has been named as *Agnivāṇa*, by Gandhiji. It is for the development of the moral mental standard of the public. It should be used for the self-purification. It may be against injustice. It may be practised by those who have spiritual power. The hunger strike needs spiritual power, sanctity self-restrain, benevolence and strong determination.¹⁸ It should be utilized when all other means for removing demerits fail.

Strike - According to Gandhiji the strike does not mean to damage factory and to fight against capitalist. The industry needs both capital and labour. So there should be co-operation between capitalist and labours, The labours should treat the factory as their own property. So they should strike against injustice, exploitation and selfishness of the factory owner. They should never make up their minds to destroy the factory. They should get themselves, trained in handicraft so that at the time of strike their necessities may be fulfilled through it.

Indian Socialism

India is a land of benevolence and kindness. Indian saints and seers like Lord Mahāvīra, Lord Buddha and Mahatma Gandhi have taught the world non-violence, compassion and universal love. So Indian theory whether it is social or economic or political runs

around non-violence. If it is different from non-violence, its Indianship may be doubted. Indian socialism also is based on non-violence.

Karl Marx is known as the founder of socialism but he has given importance to the end. The means has been neglected by him. His socialism depends on the class struggle between capitalists and labours. Karl Marx has declared that in the struggle capitalist will be defected and the governing power will be achieved by labours. The labours will not care for their ruin. If the capitalists will not handover their power to the labours, they will take it forcibly and injuriously. In this way a day will come when the state will lose its existence because actually state is useless. It has been established for their own pleasures and prosperity.

But in India, the injurious form of this western socialism has been changed in non-injurious form by Acharya Narendra Dev, the father of Indian Socialism. In India, there is democratic socialism which, according to Acharya Narendra Dev, has faith in the ethical development coming from the ancient time, and ultimately comes to the social morality. It solves the problems of interconflicts found in the ethical ideology, protects the ethical theories of humanity and traditional ideas which do not have any opposition against socialism.¹⁹ The social morality is the real human morality. The social morality consists of literacy, equality and universal welfare.²⁰ The democratic socialism wants classless society. The socialistic society never permits heavy taxation and money making for any service to society.²¹ Acharya Narendra Dev has propounded that socialism is not only economic but a cultural revolution also. The unity between labour and capitalist is the original theory of social culture. It assesses human labour as the constructive power of human personality.²²

Dr. Ram Manohar Lohia, an eminent supporter of socialism has emphasized on the removal of the seven types of disparities

found in the society.

i) **Disparity between man and woman.** In India women are exploited by men. They depend on men both economically and socially. This is not proper on their parts, because they are friends of men not servants. So they should be treated equally.

ii) **Disparity between rich and poor** - One should not be so rich that others will become poor. There must be a proper balance of property distribution. A person should have as much land as it may be cultivated by him without any servant, so that economic difference prevailing in the society may be removed.

iii) **Disparity based on caste** - Indian society is divided into different classes on the basis of castism. So Lohia is found worried for the social torture and national harm caused by the caste system. He always tries to remove it.

iv) **Disparity between White and Black** - In the western countries there is disparity between White and Black. The black people are always misbehaved by the white persons. The blacks are backward while whites are forward. So blacks are neglected by whites. But Lohia is into favour of equality between blacks and whites.

v) **Disparity between the countries ruled and ruler countries** - This inequality is just like the equality of the Black people and the White people. Except Japan, all countries of white people are rich while all nation of the black people are poor. The white countries are exploiting the black countries through the multi-national companies. According to Lohia rich countries should help the poor countries by allowing the poor people to settle in the rich countries.

vi) **Disparity in Arm-hoarding** - The western countries are producing different destructive weapons in the name of saving the peace of their nations and the world also, while the eastern

developing countries are trying to solve the problems of food, cloths and other necessary things. The developed nations of world are running in the competition of arms production. The arms production has become the symbol of status. A nation is treated as much powerful and prestigious as much it produces damaging arms. The developed nations are producing and selling arms in the world market and the developing nations are purchasing arms for their protection from neighbour countries. The developing countries are expending the percentage of their income for arms and weapons much more than other necessities. So the developed countries are becoming rich day by day while developing countries are becoming poor in the competition of arms hoarding. Dr. Lohia refuses the idea of this competition in the favoure of the establishment of a peaceful social life.

vii) Disparity between Individual and Society or Group, State or Government - The western democracy depends on the individual freedom. But in the individual freedom a wealthy person exploits the poor fellows and the individual freedom becomes useleß for the society. The importance has been being given to the group. It means production and distribution should be controlled by the group. But in the management by group, production and distribution are being captured by the managers and the group management fails. The difference between individual and society remains as it is. Acharya Narendra Dev asserts that there should be a harmony between individual and society. Dr. Lohia and Jaiprakash Narayan have given importance to *Satyāgraha*. They are of opinion that individual has right to express his opposition against the state if it neglects his freedom. Therefore, according to socialists individual is known physically and in the absence of individual freedom the liberty of a group or government has no meaning.²³

Jaiprakash Narayan wants to establish compromise between both material life and spiritual life. There should be a harmony

between village and city. He says that in a country there should be individual industries, social industries and government industries. The corporation system of industry management should be enhanced. On the whole, he wants a society free from violence and full of peace. In the society no body should be in trouble for his necessities.²⁴

Thus it may be remarked that the political thinking based on non-violence may provide peace and prosperity to a nation.

Reference :

1. *Samāja Darśana Kī Bhūmikā*, Dr. J.P. Srivastava, p. 133.
2. *Ibid.* p. 136.
3. Lord Bryce : *Modern Democracy*, Vol. II, p. 535.
4. Mill : *Representative Governments*, p. 45.
5. Lord Bryce, *Modern Democracy*, Vol. I, p. 20.
6. Seely - *Introduction to Political Science*, p. 324.
7. Abraham Lincon
8. *Harijan*, 11, February, 1939.
9. *Modern Review*, October, 1943, an interview of Gandhiji with A.K. Bose.
10. *Ethical Religion*, p. 40.
11. *Samāja Darśana Kī Bhūmikā* p. 378.
12. *Young India*, 2 July, 1931.
13. *Harijan*, 28-July, 1946.
14. *Samāja Darśana Kī Bhūmikā*, p. 380.
15. *Hinda Svarāja*, p. 60.
16. Unesco Seminar, p. 382.
17. *Harijan*, 3 February, 1940.
18. Press Advertisement, 21 September, 1932, *Harijan* 3 Oct. 1940.
19. Acharya Narendra Dev - *Yuga aura Vicāra*, Ed. Jagdish Chandra Diksita, p. 212.
20. *Ibid.*, p. 215.
21. *Ibid.*, p. 219.
22. *Ibid.*, p. 223.
23. *Samājavāda*, Yugeswar, p. 141.
24. *Ibid.*, 142.



जैन जगत

पुरस्कार और सम्मान

महावीर पुरस्कार वर्ष 2006 एवं ब्रह्म पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाडिया पुरस्कार 2006

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी के वर्ष- २००६ के महावीर पुरस्कार के लिए जैनधर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक/शोध-प्रबन्ध की चार प्रतियाँ दिनांक ३० सितम्बर २००६ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में प्रथम स्थान प्राप्त कृति को २१००१/- एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा तथा द्वितीय स्थान प्राप्त कृति को ब्रह्म पूरणचन्द्र रिद्धिलता लुहाडिया साहित्य पुरस्कार ५००१/- एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा। ३१ दिसम्बर २००२ के पश्चात् प्रकाशित पुस्तकें ही इसमें सम्मिलित की जा सकती हैं।

वर्ष २००५ का महावीर पुरस्कार डॉ. श्रीमती ज्योति जैन एवं श्री कपूरचन्द जी जैन, खतोली को उनकी 'कृति स्वतंत्रता संग्राम में जैन' पर दिनांक १४ अप्रैल २००६ को श्री महावीरजी में महावीर जयन्ती के वार्षिक मेले के अवसर पर प्रदान किया गया।

नियमावली तथा आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिए संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर-४ से पत्र व्यवहार करें। —डॉ. कमलचन्द सोगानी, संयोजक।

स्वयंभू पुरस्कार-2006

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष-२००६ के स्वयंभू पुरस्कार के लिए अपभ्रंश से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियाँ ३० सितम्बर, २००६ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में २१००१/- एवं प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया जायेगा। ३१ दिसम्बर, २००२ से पूर्व प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियाँ सम्मिलित नहीं की जायेंगी।

नियमावली तथा आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियाँ भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर- ४ से पत्र व्यवहार करें। - डॉ. कमलचन्द सोगानी, संयोजक

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान वैशाली में जगदीशचन्द्र माथुर स्मृति व्याख्यानमाला-2006 सम्पन्न

महावीर जयन्ती एवं वैशाली महोत्सव के अवसर पर संस्थान सभागार में ११ अप्रैल, २००६ ई. दिन मंगलवार को ११.३० बजे पूर्वाह्न “अहिंसा : सिद्धांत और व्यवहार” विषयक विद्वद्गोष्ठी आयोजित की गयी, जिसका उद्घाटन श्री चुआउडो ललसोता, आयुक्त, तिरहुत प्रमण्डल, मुजफ्फरपुर-सह-अध्यक्ष, कार्यकारिणी एवं प्रकाशन समिति, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली ने किया तथा अध्यक्षता, प्रसिद्ध इतिहासविद् प्रो. (डॉ.) विजय कुमार ठाकुर, प्रतिकुलपति, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय ने किया। इसमें साहित्यवाचस्पति डॉ. श्रीरंजन सुरिदेव, पूर्व उपनिदेशक, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रो. सी.पी. सिन्हा, पूर्व निदेशक, के.पी. जायसवाल शोध संस्थान, पटना, प्रो. डी.एन.शर्मा एवं अन्य अनेक गणमान्य आचार्यों के महत्वपूर्ण व्याख्यान सम्पन्न हुए।

बी.एल. इन्स्टीट्यूट की मासिक अध्ययन संगोष्ठी में ‘जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में अनेकान्त’ विषय पर शोधपत्र

भारतीय संस्कृति पर शोध एवं अध्ययन हेतु समर्पित भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति संस्थान, दिल्ली के मासिक अध्ययन संगोष्ठी की दसवीं कड़ी में ८ अप्रैल, २००६ को आयोजित संगोष्ठी में बी.एल. आई.आई., दिल्ली के कोषाध्यक्ष, श्री देवेन यशवंत ने “जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में अनेकान्त” विषय पर अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अनेकान्त की आवश्यकता एवं महत्ता पर विद्वान वक्ता ने समीक्षात्मक साक्ष्य प्रस्तुत किये।

इस अवसर पर विशेष रूप से उपस्थित श्रमण संघीय जैन साध्वी श्री श्रेष्ठाश्रीजी म.सा., चन्दनाश्रीजी म.सा. एवं कर्णिकाश्रीजी म.सा. ने शोध विषय की सराहना करते हुए समाज व धर्म के प्रति आकृष्ट होने के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया।

उपस्थित विद्वानों ने ‘जैन एवं अन्य भारतीय दर्शनों में अनेकान्त’ विषय पर शोधपूर्ण लेख की सराहना करते हुए इस बात पर बल दिया कि ऐसे प्रयासों

११८ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

से जैन धर्म एवं जैन दर्शन के ऊपर शोध करने वाले विद्वानों को विशेष लाभ होगा।

कार्यक्रम का समन्वय संस्थान के संयुक्त एवं कार्यकारी निदेशक डॉ. बालाजी गणोरकर ने किया।

संगोष्ठी का शुभारम्भ संस्थान के डा. मोहन पाण्डेय के नमोकार मंत्र तथा पौराणिक मंगलाचरण से हुआ। संगोष्ठी में वल्लभ स्मारक के महामंत्री, उद्योगपति एवं समाजसेवी श्री राजकुमार जैन तथा डॉ. अशोक कुमार सिंह इत्यादि वरिष्ठ गणमान्य विद्वान उपस्थित थे।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी की 82वी जन्म-जयन्ती

नई दिल्ली, २२ अप्रैल २००६। सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज के ८२वें जन्मदिवस पर जैन सभा यूसुफ सराय, ग्रीनपार्क ने 'जैन गर्ल्स स्कूल' ग्रीनपार्क एक्सटेंशन में एक विशाल धर्मसभा का आयोजन किया। इस अवसर पर आचार्यश्री ने अपने गुरुओं चारित्र चक्रवर्ती परमपूज्य आचार्य श्री शान्तिसागर जी मुनिराज एवं परमपूज्य आचार्य श्री देशभूषण जी मुनिराज को नमन करते हुए कहा कि— धर्म कभी तोड़ना नहीं सिखाता इसलिए किसी को भी मत टुकराओ, सबको गले लगाओ, धर्म सिखाओ। समारोह में अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर तीर्थक्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष श्री नरेश कुमार सेठी एवं महासभाध्यक्ष निर्मल कुमार सेठी को 'भगवान बाहुबली महामस्तकाभिषेक महोत्सव' में उनके अतुलनीय योगदान के लिए सम्मानित किया गया। उनको अपने आशीर्वचन में आचार्य श्री ने कहा कि— जो 'जीओ और जीने दो' की बात कहता है, वह अनेकान्तवाद का ज्ञाता है और जो 'मरो और मरने दो' की बात करे वह आतंकवाद का पोषक है। अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ जीवन पद्धति है। आचार्यश्री ने सबके मंगलमय जीवन की कामना की।

कोल्हापुर के भट्टारक लक्ष्मीसेनजी ने कहा कि— आचार्यश्री ज्ञानपिपासु हैं। मूडंबिद्री के भट्टारक चारुकीर्तिजी, साधना केन्द्र के धर्मानन्द जी, ग्रीनपार्क समाज, नई दिल्ली के अध्यक्ष मुनीश्वर प्रसाद जैन, शोलापुर की विदुषी डॉ. मयूर शाह आदि ने भी विनयांजलि अर्पित की। मंगलाचरण डॉ. वीर सागर जैन एवं मंच संचालन श्री सतीश जैन (आकाशवाणी) ने किया।

कुन्दकुन्द भारती में श्रुतपंचमी : प्राकृत भाषा दिवस समारोह सम्पन्न

सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के पावन सान्निध्य में कुन्दकुन्द भारती में श्रुतपंचमी : प्राकृतभाषा दिवस समारोह आध्यात्मिकता के पवित्र वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर सिद्धान्तचक्रवर्ती परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने कहा कि- अब से लगभग २२०० वर्ष पूर्व सर्वप्रथम धरसेनाचार्य के शिष्यों-पुष्पदन्त एवं भूतबलि ने षट्खंडागम आदि शास्त्रों को लिपिबद्ध किया था। तभी से यह पर्व शास्त्रों की रक्षा, ज्ञान की उपासना के रूप में मनाया जाता है। इस पर्व पर सारस्वत आराधना करने से चक्रवर्ती की विभूति तक प्राप्त हो जाती है। समयसार में लिखा है कि उत्तम सुख के लिए यदि प्रेम करना है तो ध्यान से प्रेम करो, संतुष्ट होना है तो ज्ञान से और तृप्त होना है तो ध्यान से तृप्त हो। ज्ञान ही सब कुछ है।

समारोह के मुख्य वक्ता महामहोपाध्याय डॉ. दामोदर शास्त्री ने कहा कि- संस्कृति ही राष्ट्र की असली सम्पत्ति है और संस्कृति आध्यात्मिक ज्ञान पर निर्भर होती है। जिनवाणी को गंगा के समान पवित्र माना गया है। स्वाध्याय ही सबसे बड़ा तप है।

समारोह के अध्यक्ष प्रो. वाचस्पति उपाध्याय ने कहा कि- मानव को दानव नहीं, बल्कि देव बनने का प्रयास करना चाहिए। समारोह के प्रमुख अतिथि प्रो.(डॉ.) राजाराम जैन ने कहा कि- श्रुतपंचमी सारस्वत पावन पर्व है।

समारोह में कुन्दकुन्द भारती संस्थान की त्रैमासिक शोध पत्रिका 'प्राकृतविद्या' के 'आचार्य देशभूषण जी मुनिराज जन्म शताब्दी विशेषांक' का लोकार्पण किया गया।

**इन्स्टीट्यूट आफ जैनालाजी, लंदन द्वारा तैयार एवं ब्रिटिश
लाइब्रेरी द्वारा प्रकाशित कैटलाग आफ मैनुस्क्रिप्ट सहित तीन
ग्रंथों का प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह द्वारा लोकार्पण**

२७ मई, २००६ नई दिल्ली, विज्ञान भवन में देश-विदेश के गणमान्य महानुभावों, जैन विद्वानों, राजपुरुषों, साहित्यकारों एवं कवि, लेखकों की उपस्थिति में ब्रिटिश लाइब्रेरी में संग्रहीत जैन हस्तप्रतों के तीन ग्रंथों का विमोचन करते हुए प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह ने कहा कि भारत ज्ञान समृद्धि का भंडार

हैं। विपुल प्राचीन हस्तप्रतों वंशानुगत संग्रहीत हैं। यह ज्ञानवृद्धि के भंडार को बढ़ाने में सक्षम हैं। ये हमारे देश की गौरव-गाथा हैं। आज ऐसे ही तीन ग्रंथों का विमोचन करते हुए मुझे हर्ष एवं गौरव का अनुभव हो रहा है।

केन्द्रीय प्रवास एवं सांस्कृतिक मंत्री सुश्री अंबिका सोनी ने कहा कि सन् १९७६ में राजस्थान के सरदारशहर की यात्रा के बाद मेरा जैन धर्म के प्रति सद्भाव आज तक ज्यों का त्यों चल रहा है। आज आदरणीय प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह जी के हाथों तीन हस्तप्रतों के केटलाग के विमोचन होने से मुझे अत्यन्त आनंद की अनुभूति हो रही है। इन्स्टिट्यूट ऑफ जैनालोजी को इस भगीरथ कार्य के लिए खूब-खूब बधाई।

ब्रिटिश लायब्रेरी में संग्रहीत जैन हस्तप्रतों के संशोधन कार्य में संलग्न डॉ. नलिनी बलबीर ने इन हस्तप्रतों में समाहित व्याकरण, शब्दशास्त्र, नीतिशास्त्र, गणितशास्त्र, खगोलशास्त्र एवं ज्योतिषशास्त्र की बात उजागर की। आपने विश्व विख्यात डॉ. चंद्रभाल त्रिपाठी का संस्मरण करते हुए श्री कनुभाई तथा कल्पनाबहन शेठ के विशेष सहयोग की भूरि-भूरि प्रशंसा की। भारत और ब्रिटेन के संयुक्त सहयोग के बाद अब ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, विक्टोरिया ऐन्ड आल्बर्ट म्यूजियम इत्यादि अनेक संस्थाओं में विद्यमान जैन हस्तप्रतों के भावी संशोधन के कार्यों का भी आपने उल्लेख किया।

भारत स्थित ब्रिटिश हाई-कमिश्नर सर माइकल आर्थर ने दोनों देशों के इस संयुक्त प्रयास को खूब सराहा। साथ ही भविष्य में इस प्रकार के अनेक कार्य होने तथा आपसी सम्बन्ध और मजबूत होने की आशा जताई।

इस भव्य कार्यक्रम के प्रारम्भ में इन्स्टिट्यूट ऑफ जैनालोजी के अध्यक्ष श्री रतिभाई चंदरया ने अपने स्वागत भाषण में इस भगीरथ कार्य का श्रेय श्री नेमुभाई चंदरया एवं डॉ. कुमारपाल देसाई को दिया। कार्यक्रम का संचालन श्रीमती मनदीप शर्मा कर रही थीं। आभार विधि श्री हर्षदभाई संघराजका ने की।

इस अवसर पर जो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उपस्थित रहे उनमें श्री एल. एम. सिंघवी, श्री दीपचंद गाडी, सांसद श्री पुष्प जैन, अभिषेक मनु सिंघवी, यू.एन.ओ. के पूर्व राजदूत श्री एन. पी. जैन, श्री नलिन कोठारी, अमेरिका की 'जैना' संस्था के प्रमुख श्री किरिट दफ्तरी, उपप्रमुख श्री दिलीप शाह, न्यूयार्क के श्री रजनीभाई शाह, दुबई के श्री नितीश दोशी, श्री संवेग लालभाई, श्री बाहुबली शाह, निर्मम शाह, बिपिन दोशी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस समारोह में पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति के संयुक्तमंत्री श्री **इन्द्रभूति बरड़** एवं सहनिदेशक डॉ. श्रीप्रकाश पाण्डेय विशेष रूप से

उपस्थित रहे।

डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा शोध परियोजना स्वीकृत

डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन, प्राध्यापक संस्कृत, महारानी लक्ष्मीबाई शासकीय उत्कृष्ट महाविद्यालय, ग्वालियर को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग भोपाल द्वारा "जैन दर्शन में सृष्टि की अवधारणा एवं उसकी वैज्ञानिकता" विषय पर लघु शोध परियोजना स्वीकृत की गई है। जिसमें ५५ हजार की राशि शोध कार्य हेतु स्वीकृत की गई है।

डॉ. जैन को यह द्वितीय परियोजना स्वीकृत की गई है। इसके पूर्व भी आयोग द्वारा स्वीकृत "वास्तुशास्त्र की आधुनिक संदर्भ में प्रसंगिकता एवं महत्त्व पर" आप शोध कार्य सम्पन्न कर चुकी हैं।

संस्कृत विभाग के दो-दो प्रोजेक्ट प्राप्त करने वाली आप प्रथम महिला विदुषी हैं। इस उपलब्धि पर संस्कृत जगत् के मनीषी विद्वान् एवं जैन समाज के गणमान्य व्यक्तियों, शोधार्थियों द्वारा आपको बधाइयाँ दी गई हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की डॉ. जैन को बधाई।

The 18th All India Summer School on Prakrit Language, Literature & Manuscriptology successfully completed at BLII

Valedictory Function of 18th Three Week All India Summer School on Prakrit Language, Literature & Manuscriptology was held at Bhogilal Leherchand Institute of Indology, Delhi, on 11th June 2006. There were about 49 students for the primary as well as advance courses from the Universities and Institutions all over India. The eminent scholars of India gave a very condensed and extensive course to them on Prakrit Language, literature and Manuscriptology.

Prof. Vachaspati Upadhyaya, V.C. of Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth was the chief Guest and Shri Champak Chatterji, Secretary, Ministry of HRD, New Delhi and Prof. Alexander Von Rospatt of University of Callifornia were the Guests of Honour. After formal beginning of the function with

invocation, the Vice-chairman of BLII, Shri N.P. Jain introduced and welcomed the distinguished guests while Shri Raj Kumar Jain; Secretary General of Vijay Vallabh Samarak, gave introduction about the activities of the Smarak. The Officiating Director of BLII, Dr. Balaji Ganorkar spoke about the Institute, Summer School, and the future plans. He made formal declaration of the formation of Alumni Association of the students of Prakrit Summer School, so that they can meet at least once a year and discuss on following matters :

Reading of Prakrit MSS, Editing of the Prakrit Texts, Critical Study of the Prakrit Texts, Scholarships/ Financial assistance may be provided to needy scholars, Interactions among people related with studies of Prakrit and allied topics viz. Faculties, Researchers in Prakrit and various organizations and agencies.

Dr. Balaji also intimated about the holding of International Seminar on '*Yogic Traditions of India with special reference to Jainism*' on 7th to 9th December this year at India International Centre, New Delhi to be organized by BLII.

Prof. S.R. Banerjee, the Convenor of the Summer School presented a vivid account of the course, its importance and standard before the audience and expressed happiness for his association with the Summer School and the BLII for the past 18 years.

In this programme, prizes were given to the students who stood first, second and third in the examination by the Chief Guest as well as the Guests of Honour. The First Prize of Rs. 2100/- to each student in Advance and Elementary courses in Prakrit Language & Literature were sponsored by Jaswanta Dharmarth Trust and the Second and Third Prizes of Rs. 1100/- and Rs. 500/- respectively were sponsored by Enkay Charitable Foundation. Three prizes of Rs. 2100/-, 1100/- and 500/- were also awarded by BLII in Manuscriptology Course.

Lastly, Prof. Vachaspati Upadhyaya gave the Valedictory address in which he spoke about the *Samyak-jñāna*, *Darśana Cāritrā* and accordingly *Samanjasya*, *Samatā*, *Śīla*, *Vṛttis* etc. and connected them with each other. He requested the students not to

neglect the Prakrit language and pursue their career in this field. Finally, on behalf of Lal Bahadur Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth he gave an offer to BLII to join hands for signing an MOU for conducting advance courses for the study of Prakrit language & literature in Delhi.

शोक-समाचार

डॉ. धर्मचन्द जैन को मातृशोक



अलीगढ़ (टोंक)- दृढ़धर्मिष्ठा सुश्राविका एवं डॉ. धर्मचन्द जैन (एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर की मताश्री श्रीमती कपूरीदेवी जी, धर्मपत्नी स्वाध्यायी सुश्रावक स्व. श्री सोभागमल जी जैन का ७२ वर्ष की आयु में २६ अप्रैल २००६ को प्रातः सौरसी एवं प्रकाशन के प्रत्याख्यान में सहज समाधि में आकस्मिक स्वर्गगमन हो गया। नियमित रूप से सामायिक साधना करने वाली सुश्राविका के बचपन

से रात्रिभोजन का त्याग था। आप कच्चे पानी के त्याग एवं लीलोती की मर्यादा के नियम का लगभग २० वर्षों से पालन कर रही थीं। प्रत्येक श्रावण एवं भाद्रपद में एकान्तर उपवास करती थीं तथा नौदिवसीय तपस्या करने पर भी प्रतिदिन १३ द्रव्यों से अधिक का सेवन नहीं करती थीं। तप-त्याग एवं व्रत नियमों के साथ सतियों के चातुर्मास में रात्रि-संवर स्थानक में ही करती थीं। सरलता, सहिष्णुता, सन्त-सती-सेवा एवं अतिथि सेवा की वे आदर्श मूर्ति थीं। अपने पीछे आप 'जिनवाणी' के सम्पादक डॉ. धर्मचन्द जैन एवं उनके भ्राता श्री ऋषभजी, श्री टीकम जी एवं श्री विनोद जी जैन का भरा पुरा परिवार छोड़कर गई हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार निर्वेद, सन्तोषभाव से दिवंगत पुण्यात्मा के श्री चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए डॉ. जैन के शोक-सन्तप्त परिवार से प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करता है।

पार्श्वनाथ विद्यापीठ के पुस्तकालयाध्यक्ष

श्री ओमप्रकाश सिंह को मातृशोक

८ जून, वाराणसी। पार्श्वनाथ विद्यापीठ स्थित शतावधानी रत्नचन्द पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश सिंह की माताश्री श्रीमती लीलावती देवी का एक संक्षिप्त बीमारी के बाद निधन हो गया। श्रीमती लीलावती

१२४ : श्रमण, वर्ष ५७, अंक २ / अप्रैल-जून २००६

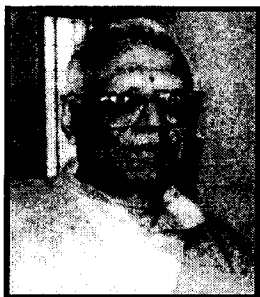
देवी एक धर्मपरायण, अत्यन्त सरल स्वभावी एवं मधुरभाषिणी महिला थीं। दुःखी व्यक्तियों की सेवा एवं परकल्याण को आप पूर्णतया समर्पित थीं। आप अपने पीछे अपने चार सुपुत्रों, दो बेटियों का भरापुरा परिवार छोड़ गयी हैं।

श्रीमती लीलावती देवी के निधन का समाचार मिलते ही विद्यापीठ परिवार शोक संतप्त हो गया। सबने श्री जिनेन्द्रदेव से श्री ओमप्रकाश सिंह एवं उनके परिवार को इस दुःख को सहन करने एवं मृतात्मा को शान्ति प्रदान करने हेतु प्रार्थना की।

**‘भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व के मूर्धन्य विद्वान
प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा नहीं रहे’**

(29 जुलाई 1936 – 28 मई 2006)

वाराणसी, २८ मई, २००६ को भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं कला के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा का हृदय गति रुक जाने से असामयिक निधन हो गया।



प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा, ज्ञान-प्रवाह-सांस्कृतिक अध्ययन एवं शोध केन्द्र, वाराणसी में मानद निदेशक एवं आचार्य तथा न्यास एवं शासीपरिषद् के सदस्य थे। आपकी शिक्षा वाराणसी, कलकत्ता व पेरिस में हुई थी। ज्ञान-प्रवाह में आने से पूर्व आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित भारत कला भवन

के निदेशक तथा भारतीय कला एवं संग्रहालय शास्त्र के प्रोफेसर पद पर कार्यरत थे। प्रो. शर्मा कई समितियों एवं विश्वविद्यालयों में विभिन्न पदों पर आसीन रहे। आप राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के महानिदेशक तथा उससे सम्बद्ध विश्वविद्यालय के कुलपति थे। भारतीय संग्रहालय, कोलकाता; राज्य संग्रहालय, लखनऊ; उ.प्र. राज्य पुरातत्त्व संगठन; एवं मथुरा संग्रहालय के निदेशक पद को भी आपने विभूषित किया। इसके साथ ही आप भारतीय संग्रहालय परिषद्, वृन्दावन शोध-संस्थान, पांचाल शोध-संस्थान तथा ब्रजकला केन्द्र के भी अध्यक्ष रहे। प्रो. शर्मा एशियाटिक सोसायटी, कोलकाता के प्रशासक; कल्याणी विश्वविद्यालय में राज्यपाल के प्रतिनिधि; विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के श्रव्यदृश्य कला संकायों के समायोजक; के. के. विरला फाउन्डेशन के सदस्य; एशियाटिक सोसायटी की मूल्यांकन समिति के अध्यक्ष; तथा इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय

कला केन्द्र, वाराणसी शाखा के मानद समन्वयक; अमेरिकन इन्स्टीच्यूट आफ इन्डियन स्टडीज की परामर्शदात्री समिति के सदस्य तथा राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान के प्रबन्ध परिषद् से भी सदस्य के रूप में जुड़े रहे।

प्रो. शर्मा ने भारतीय कला से सम्बन्धित अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'बुद्धिस्ट आर्ट- मथुरा स्कूल' आकर ग्रन्थ के रूप में मान्य है। उन्होंने लखनऊ, कोलकाता व वाराणसी में शोध-पत्रिकाओं का सम्पादन किया एवं सौ से अधिक शोध-निबन्ध लिखे जो देश विदेश की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। सत्र से अधिक पी.एच-डी. व डी. लिट. उपाधियों तथा शोध-प्रबन्धों का मूल्यांकन भी आपने किया। देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों और विभिन्न संस्थानों में प्रो. शर्मा प्रतिष्ठित स्मारक व्याख्यानों के लिए स्मरण किये जाते हैं।

प्रो. शर्मा विभिन्न शिष्ट मण्डलों के सदस्य, प्रदर्शनी आयुक्त तथा व्याख्याता के रूप में फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, हालैंड, वेल्जियम, पोलैंड, चिली, सोवियत संघ (रूस), अमेरिका, कनाडा, जापान, सिंगापुर, थाईलैंड, बंगलादेश, टर्की आदि देशों की यात्राएँ भी कीं।

प्रो. शर्मा ने मथुरा, लखनऊ, कोलकाता, दिल्ली व वाराणसी के संग्रहालयों में अनेक वीथिकाएँ तथा ज्ञान-प्रवाह में संग्रहालय व जेम्स प्रिंसेप विथिका स्थापित की एवं प्रतिष्ठा परक स्मृति व्याख्यान मालाएँ आरम्भ कीं। आप विश्वविद्यालयों तथा लोक सेवा आयोग की उच्चस्तरीय चयन समितियों, तथा तकनीकी, शैक्षिक या प्रशासनिक इकाइयों के अध्यक्ष, सदस्य तथा विशेषज्ञ भी रहे।

प्रो. शर्मा संस्कृत तथा प्राचीन लिपियों के विशेषज्ञ थे। आपने इस दिशा में अनेक शिविरों का आयोजन किया तथा प्राचीन ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपियों को पुनरुज्जीवित किया।

प्रो. शर्मा को ए.वी. आई. गोल्ड रिकार्ड, अमेरिका ने विशिष्ट उपलब्धियों के लिए १९९७ एवं २००५ में मैन आफ दि ईयर घोषित किया था।

आप पार्श्वनाथ विद्यापीठ से अभिन्न रूप से जुड़े थे। विद्यापीठ को उनका सतत् मार्गदर्शन मिलता रहता था। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध- समिति के मानद सचिव प्रो. सागरमल जैन ने प्रो. शर्मा के निधन को अपनी व्यक्तिगत एवं अपूरणीय क्षति बताया। आपके निधन से पूरा विद्यापीठ परिवार शोक संतप्त हो गया। एक सादे शोक सभा में विद्यापीठ के स्टाफ ने प्रो. शर्मा को श्रद्धांजलि अर्पित की।

साहित्य सत्कार

पुस्तक समीक्षा

1. आचार दिनकर प्रथम-खण्ड, जैन गृहस्थ की षोडश संस्कार विधि, लेखक-आचार्य धर्ममान सूरि, अनुवादक-साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी, सम्पादक-प्र० सागरमल जैन, प्रकाशक-प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा, रोड, शाजापुर (म.प्र.) पृ. 136, प्रथम संस्करण सितम्बर-2005, मूल्य 40 रुपये, साइज डिमाई।

आचार्य वर्धमान सूरि कृत प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत और प्राकृत भाषा में रचित है। यद्यपि अपने मूल भाषा में यह ग्रन्थ पहले भी प्रकाशित हुआ था किन्तु भाषा की क्लिष्टता के कारण पाठक वर्ग में उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया जितना अपेक्षित था।

यद्यपि अभी तक अनेकों ग्रन्थ गृहस्थ चर्या पर प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु उन ग्रन्थों में जैन गृहस्थ आचार के सामान्यतः प्रचलित विधि-विधानों यथा पौषध, प्रतिक्रमण, उपधान, सामायिक का ही विवेचन मुख्य रहा है और गृहस्थों के अन्य संस्कार प्रायः गौड हैं।

जहाँ तक जैन आगमों का प्रश्न है उसमें गृहस्थ के षोडश संस्कारों की समुचित व्याख्या का अभाव ही दृष्टिगत होता है और जहाँ कहीं किन्हीं संस्कारों का वर्णन प्राप्त भी होता है, वहाँ संस्कारों का मात्र नामोल्लेख ही है। ऐसा नहीं है कि श्रावकों के संस्कार सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई ही नहीं। आगमिक काल के पश्चात् इस प्रकार के ग्रन्थ निर्मित होने लगे थे किन्तु उनमें भी षोडश संस्कारों का कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता है वरन् उन संस्कारों के विधि-विधान का मात्र संसूचनात्मक निर्देश ही मिलता है जो यह सिद्ध करता है कि जैन परम्परा में भी संस्कार सम्बन्धी कुछ विधान अवश्य किये जाते थे।

श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र के अष्टप्रकरण, पंचाशक प्रकरण, पंचवस्तु आदि ग्रन्थों में भी कुछ विधि-विधानों का उल्लेख किया गया है किन्तु एक तो वह अत्यन्त संक्षिप्त हैं दूसरे उनमें मुनि जीवन के ही आचार सम्बन्धी कुछ संस्कारों का वर्णन किया गया है। गृहस्थ के षोडश संस्कारों का सुव्यवस्थित

वर्णन वहाँ भी नहीं मिलता है। इसी प्रकार पं० आशाधर के ग्रन्थों में भी कुछ विधि-विधानों की चर्चा की गयी है परन्तु षोडश संस्कारों का वहाँ भी अभाव है। इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ आचार दिनकर गर्भ धारण से लेकर अन्त्य संस्कारों का अर्थात् जन्म ग्रहण करने से लेकर अन्त्येष्टि तक के सभी संस्कारों के विधि-विधानों की विस्तारपूर्वक चर्चा करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ चालीस उदयों में विभाजित है जिसे वर्धमान सूरि ने तीन भागों में विभाजित किया है- प्रथम खण्ड में गृहस्थों के षोडश संस्कारों एवं दूसरे खण्ड में मुनि जीवन से सम्बन्धित षोडश संस्कारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही आम्नाय में षोडश संस्कारों का वर्णन करनेवाला अद्वितीय ग्रन्थ है।

वर्धमान सूरि ने इस ग्रन्थ में षोडश संस्कारों में से ब्रह्मचर्य को छोड़कर शेष पन्द्रह संस्कारों को गृहस्थों को करने की अनुमति प्रदान करके एक व्यापक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित विधि-विधानों का व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है। इन विशेषताओं के कारण ही यह ग्रन्थ गृहस्थों के लिये अत्यन्त उपादेय है।

इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवाद का प्रमुख कार्य कर साध्वी मोक्ष रत्ना जी ने प्रशंसनीय कार्य किया है। आपने पाठकों के ज्ञान भण्डार में अमूल्य वृद्धि की है। विद्वान लेखिका से यह अपेक्षा है कि इसी प्रकार वे साहित्य के प्रकाशन और अनुशीलन में रुचि लेते हुए जिनशासन के श्रुतसाहित्य में अभिवृद्धि करती रहेंगी। ग्रंथ की वाह्याकृति आकर्षक व मुद्रण सत्वर है।

डा० शारदा सिंह

2. आचार दिनकर द्वितीय-खण्ड, जैन मुनि जीवन के विधि विधान,
लेखक-वर्धमानसूरि, अनुवादक-साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी, सम्पादक- प्रो०
सागरमल जैन, प्रकाशक- प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड, शाजापुर (म.प्र.)
प्रथम संस्करण-फरवरी 2006, पृ.-193 मूल्य-50 रुपये, साइज-डिमाई

आचार्य वर्धमान सूरि कृत प्रस्तुत ग्रन्थ संस्कृत व प्राकृत भाषा में है। इसके हिन्दी अनुवाद का महत्त्वपूर्ण कार्य साध्वी मोक्षरत्ना श्रीजी ने सम्पन्न किया है।

जैन परम्परा में मुनि जीवन से सम्बन्धित ग्रन्थों की एक विस्तृत शृंखला है जिनमें विधिमार्गप्रपा, समाचारी, सुबोध-समाचारी आदि ग्रन्थ हैं। इनमें मुनि जीवन से सम्बन्धित विधि-विधानों के उल्लेख तो मिलता है किन्तु उन ग्रन्थों में मुनि

व्रत धारण करने के पूर्व ब्रह्मचर्य व्रत-विधि, क्षुल्लक दीक्षा-विधि आदि को स्थान नहीं दिया गया है। ये दोनों विधियाँ दिगम्बर परम्परा में तो आज भी प्रचलित हैं किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में तो इनका सर्वथा अभाव है। इसी प्रकार के अन्य संस्कारों की विधियों का विस्तृत व समुचित वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है जो स्थिरकल्पी व जिनकल्पी- दोनों ही प्रकार के मुनियों में प्रचलित है।

इस दृष्टि से वर्धमान सूरि कृत 'आचार दिनकर' में क्षुल्लक दीक्षा-विधि और जिनकल्पी दीक्षा-विधि इन दोनों का एक साथ उल्लेख करना ग्रन्थ की अद्वियता का सूचक है। साथ ही यह भी सिद्ध करता है कि सूरि जी अपने इस ग्रन्थ को केवल श्वेताम्बर या दिगम्बर सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे अपितु उसे समस्त जैन परम्परा के लिये विधि-विधान सम्बन्धित एक सम्पूर्ण ग्रन्थ बनाना चाहते थे। उनका यह ग्रन्थ गृहस्थों और मुनियों दोनों के लिये आवश्यक रूप से अनुकरणीय है। ग्रन्थ की दूसरी विशेषता है कि इसमें योगोद्धहन, वाचनाग्रहण, वाचनानुज्ञा, इन तीनों विधियों का अलग-अलग वर्णन किया गया है। इन विधियों में कालग्रहण (स्वाध्याय हेतु समय का निर्धारण) तथा संघट्टा (किन वस्तुओं का स्पर्श करना है किसका नहीं करना है) का विशेष रूप से इसमें वर्णन किया गया है। क्योंकि इन्हीं नियमों के आधार पर कालान्तर में आचार्य और उपाध्याय पद प्रदान किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में वर्धमान सूरि ने श्रमण व श्रमणी संघ की विशेष चर्चा करते हुए इन संघों में क्रमशः उपध्याय-आचार्य तथा प्रवर्तिनी-महत्तरा पदों के कर्तव्य व पदस्थापन की विधि तथा उसमें अन्तर को बताते हुए श्रमण संघ के अन्तर्गत होने पर श्रमणी संघ की स्वतन्त्र व्यवस्था को स्वीकार किया है।

इस ग्रन्थ में ऋतुचर्या पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। यद्यपि ऋतु चर्या जैन मुनियों का एक आवश्यक और सार्वभौम विधान रहा है। इन छहों ऋतुओं में से प्रत्येक ऋतु में दिन और रात्रि में किस प्रकार का आचार पालन अपेक्षित है तथा क्या सावधानी रखनी चाहिए, इसकी भी विस्तृत व्याख्या की गयी है।

यद्यपि मृतक के अग्नि संस्कार का विधान हिन्दू धर्म में तो प्रचलित है किन्तु जैन मुनियों के सन्दर्भ में इस प्रकार के विधान का उल्लेख ग्रन्थों में नहीं मिलता है। किन्तु सूरि जी ने उन्हीं प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए मुनि के मृतक देह का अग्नि संस्कार क्यों और कैसे किया जाना चाहिए, इसपर भी प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ की इन सभी विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता

है कि मुनि जीवन से सम्बन्धित प्रत्येक विधि-विधानों की विस्तृत और व्यापक व्याख्या ग्रन्थ को महत्वपूर्ण ही सिद्ध नहीं करता अपितु इस प्रकार के सभी ग्रन्थों में अपना वर्चस्व स्थापित करता है। मुनि जीवन से सम्बन्धित विधि पर तो अब तक अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं किन्तु षोडश संस्कारों का वर्णन अलग-अलग ग्रन्थों में यदा-कदा ही मिलते हैं। संस्कारों पर इतना व्यापक और प्रामाणिक ग्रन्थ इससे पहले मुझे देखने को नहीं मिला।

निःसंदेह साध्वी जी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद कर अत्यन्त सराहनीय कार्य किया है और 'आचार दिनकर' का हिन्दी अनुवाद कर तथा उसपर शोध-ग्रन्थ लिखकर पाठकों को आत्मविकास का मार्ग दिखाया है। साथ ही प्रचलित विधि-विधानों को नवीन दृष्टिकोण प्रदान कर उसकी मूल्यवत्ता को बढ़ाया है। आशा है यह पुस्तक शोधार्थियों के लिये अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगी। ग्रन्थ की वाह्य साज-सज्जा आकर्षक व मुद्रण त्रुटिरहित है।

डा० शारदा सिंह

3. भैया भगवतीदास व उनका साहित्य, लेखक- डॉ. उषा जैन, प्रकाशक- अखिल भारतीय साहित्य कला मंच, मुरादाबाद (उ.प्र.), मूल्य 250 रु. साइज- डिमाई।

प्रस्तुत ग्रन्थ डॉ. उषा जैन द्वारा विरचित है। हिन्दी जैन साहित्य के इतिहास में जैन कवियों का उल्लेखनीय योगदान रहा है। किन्तु कवियों की कृतियाँ प्रायः उपेक्षा की शिकार हुई हैं। यही कारण है कि विशाल हिन्दी जैन साहित्य आज भी उपेक्षित पड़ा अपने मूल्यांकन की प्रतीक्षा कर रहा है। हिन्दी जैन साहित्य पर जो कतिपय कृतियाँ सामने आई हैं वे विशाल जैन साहित्य के सामने नगण्य हैं।

जैन कवियों ने १२वीं - १३वीं शताब्दी में लघु काव्यों की रचना की जिनका हिन्दी साहित्य में अपना अलग ही महत्व है। सन् १३३४ में 'जिणदत्त चरित' ने प्रबन्ध-काव्य की परम्परा शुरू की थी। इसी प्रकार 'प्रधुम्न चरित' ने प्रादेशिक भाषाओं को समृद्ध बनाने का सफल प्रयास किया।

१६वीं शताब्दी में बूचराज, चतरूमल, गौरवदास, तुक्कुरसी जैसे प्रसिद्ध जैन कवि हुए। इसी समय ब्रह्मजिणदास हुए जिन्होंने २० से अधिक रास लिखकर एक कीर्तिमान स्थापित किया। १७वीं और १८वीं शताब्दी जो हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था, में भट्टारक रत्नकीर्ति, कुमुदचन्द्र, बनारसीदास आदि की कृतियों

ने हिन्दी साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भैया भगवती दास १८वीं शताब्दी के प्रतिनिधि कवि थे। किन्तु ऐसे कवि का व्यक्तित्व और कृतित्व अध्ययन के अभाव में शास्त्र भण्डारों में ही सिमट कर रह गया था। भैया भगवती दास की कृतियों का नित्यप्रति पाठ उनके श्रद्धालुओं द्वारा किया जाता था किन्तु वे उन रचनाओं के महत्व से अब तक अपरिचित थे। ऐसे महत्वपूर्ण जैन हिन्दी विद्वान की कृतियों को उजागर करने का प्रथम प्रयास डॉ. उषा जैन ने किया है वे निश्चय ही बधाई की पात्र हैं।

ब्रह्मविलास में भैया भगवती दास की काव्य रचनाओं का अपूर्व संग्रह है। श्रीमती जैन ने इस संग्रह को हिन्दी साहित्य में इसका उचित स्थान दिलाने का वीणा उठाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीमती जैन ने ब्रह्म-विलास का दार्शनिक अवलोकन करते हुए अनेक पद्यों को भी अपने इस ग्रंथ में समावेश किया है जिससे कवि की सहृदयता, काव्यात्मकता सहज ही प्रखर होती है। इसकी भाषा गम्भीर होते हुए भी गूढ़ विषयों को सरलता और सहजता से पाठक वर्ग के सामने रखने में सक्षम है। विद्वान लेखिका से यह अपेक्षा है कि वह अपना यह प्रयास कुछ अन्य भी ऐसे व्यक्तित्व और कृतित्व को उजागर करने में जारी रखेंगी जो अभी तक अनाम हैं। पुस्तक की बाह्याकृति आकर्षक व मुद्रण स्पष्ट है।

डा० शारदा सिंह



श्रीमद् धनेश्वरसूरिविरचितं
सुरसुंदरीचरिअं
(चतुर्थ परिच्छेद)

पू० गणिवर्य श्री विश्रुतयशाविजयजीकृत
संस्कृत छाया, गुजराती और हिन्दी
अनुवाद सहित
परामर्शदात्री
प०पू० साध्वीवर्या रत्नचूलाजी म०सा०

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

२००६

Brief accounts of chapter III of Surasundaricariam

After introducing Supraṭiṣṭha with that old man Dhanadeva asks the old man to tell some thing about himself. The old man says that he is Chitravega, born in the city of Ratnasañcaya situated on Vaitāḍhya mountain of Bharata Kṣetra where his father King Pavanagati and mother Queen Bakulamati used to live with so many Vidyādhara.

Citravega says that once he went Siddhakūṭa with his father. There during a festival organized on the eve of Madana Trayodaśī he meets a beautiful nymph Kanakamālā, the only daughter of Amitagati and Chitramālā. He falls in love with Kanakamālā. The condition of Kanakamālā is also the same. Through Somalatā, the messenger of Kanakamālā, Citravega gets message from Kanakamālā that she wants to meet him, in the garden at early morning. Excited with the meeting, Citravega passes the difficult night anyhow in anticipation to see her beloved with a bright sunrise. Here the third chapter ends.

Summary of Chapter IV

In the forth Chapter Śrīmad Dhaneśvara Sūri describes further the story of Citravega and Kanakamālā who have fallen in love. Citravega is informed that Kanakamālā is going to be married with Nabhavāhana, the son of the King Gandhavāhana of Gaṅgāvarta Gandharava Nagara. He became upset that after few days Kanakamālā would become queen of some one else. Chitramālā, the mother of Kanakamālā knew that she has fallen in love with Citravega and King Amitgati wants to marry Kanakamālā with Nabhavāhana. She assures Kanakamālā not to worry as she will be married only to Citravaga. In the meanwhile Amitagati returns from Khecara Nagara. Citramālā briefs him about the relation of Citravega and Kanakamālā. Amitgati says Chitramālā that when he was in Khccara Nagara, a young man came to King Gandhavāhana and informed him about arrival of his father Suravāhana Muni at Citrakūṭa Śikhara of Vaitāḍhya who after leaving all worldly attachments has become omniscient. Gandhavāhana accompanied by Amitagati goes to meet his father. Naravāhan Muni in his sermon talks about the futility of the worldly relations and availability of human birth hardly. Gandhavāhana influenced with his father decides to leave the world and to get initiated. Amitgati with a view to get any

solution of her daughter asks Naravāhana Muni as to who will be the bridegroom of my daughter Kanakamālā. Naravāhana Muni tells that the Cakravartī of the Vaitāḍhya will be the only groom for your daughter. King Gandhavāhana proposes the relation of his son Nabhavāhana for Kanakamālā to Amitagati as he was to leave the kingship. Amitagati accepts the relation as he has no option but after return from Khecara Nagara when he was informed that his daughter has fallen in love with Citravega, he decided not to marry his daughter with Citravaga. He requests her wife to understand the situation and to convince Kanakamālā to get ready to marry with Nabhavāhana. On the other hand, Kanakamālā knowing his father's position decides either to marry Citravega or suicide. To commit suicide she climbs on Tamāla tree. As soon as she tries to suicide an oracle bursts from sky that 'Do not worry, you will be married to Citravega. After an interval again an oracle is heard saying Kanakamālā not to think on more options and to accept the proposal of her father. Citramālā, the mother of Kanakamālā informs to Amitagati that Kanakamālā has accepted the proposal of getting married with Nabhavāhana. Somalatā who was the messenger of Citravaga and Kanakamālā informs Citravega that an oracle never goes false. She goes on to describe the poor condition of Kanakamālā saying that if she fails to marry with you, she will commit suicide.

Chitravega says to Suppratiṣṭha that after being assured by Somalatā that she will keep me informed about the every incident occurring before Kanakamālā, I became relaxed. But after few days that auspicious day arrived when Nabhavāhana came to Khecara Nagara to marry Kanakamālā. Chitravega thinks that how then an oracle be false that she will be mine. With a sad mind he goes to garden where he had seen Kanakamālā first and decides to commit suicide. He climbs on the tree and keeping rope around his neck he leaves her body loose. In the meanwhile some one comes and laid his body down on the earth without any harm. He tries to get fainted Citravega conscious. When Citravega became conscious, he saw a person whom he had never seen before and who was like a Kāmadeva (Cupid - the God of love) serving him. He experiences that all his pain has disappeared and he is feeling well.

Here ends the forth chapter.

*

ii

श्रीमद्धनेश्वरसूरिविरचितं
सुरसुंदरीचरिअं
 चउत्थो परिच्छेओ

गाहा :-

भाई द्वारा आज्ञा

अह भाओ भाणुवेगो समागओ पहसिओ ममं भणइ ।

गम्मउ उज्जाणम्मि चूयलया-वयणमणुसरिउं ॥१॥

संस्कृत छाया :-

अथ भ्राता भानुवेगः समागतः प्रहर्षितो मां भणति ।

गम्यतामुद्याने चूतलता-वचनमनुस्मृत्य ॥१॥

गुजराती अर्थ :- हवे हर्षित थयेलो भाई भानुवेग माची पासे आव्यो अने मने कहेवा लाग्यो के, “चूतलताना वचनने याद करीने तुं उद्यानमां जा।”

हिन्दी अनुवाद :- अब हर्षयुक्त भाई भानुवेग मेरे पास आया और मुझे कहने लगा कि, “चूतलता के वचन-को याद कर के तू उद्यान में जा।”

गाहा :-

हरिसाऊरिय-हियएण ताहि एवंति जपमाणेणं ।

तक्कालुचियं जाव य कायव्वं काउमारब्धं ॥२॥

संस्कृत छाया :-

हर्षानुरित-हृदयेन तदा एव-मिति जल्पमानेन ।

तत्कालोचितं यावच्च कर्तव्यं कर्तुमारब्धम् ॥२॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे हर्षथी घेला थयेल हृदय वाला अने “हा” ए प्रमाणे बोलता मारा वडे ते कालने उचित जे करवा योग्य हतु ते करवा माटे प्राचम्भ करायो।

हिन्दी अनुवाद :- तब हर्षयुक्त हृदयवाले मैंने भी “हाँ” इस प्रकार कहते हुए तत्काल उचित करने लायक कार्य का आरम्भ किया।

गाहा :-

वाद्यनाद

एत्थंतरम्मि निसुओ मंगल-तूरस्सगहिर-निग्घोसो ।

पुट्ठो य मए भाया कत्थ इमं वज्जे तूरं? ॥३॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे निःश्रुतो मंगल-तूर्यस्य गंभीर-निर्घोषः ।

पृष्ठश्च मया भ्राता कुत्र इदं वाद्यते तूर्यम्? ॥३॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां मंगलवाजींत्रनो मोटो अवाज में सांभल्यो अने में भाईने पूछ्यु के आ वाजींत्र क्यां वागे छे?

हिन्दी अनुवाद :- तभी मंगल बाजींत्र की गम्भीर ध्वनि मुझे सुनाई दी और मैंने भाई से पूछा कि “यह बाजा कहाँ बज रहा है।”

गाहा :-

तो भणइ भणुवेगो सम्मं जाणे न कारणं एत्थं ।

नवरं अमितगइ-गिहे भाविज्जइ एस तूर-रवो ॥४॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति भानुवेगः सम्यग्जानामि न कारणमत्र ।

नवरं अमितगतिगृहे भाव्यते एषः तूर्यरवः ॥४॥

गुजराती अर्थ :- ट्यारे भानुवेग कहे छे के हूँ आनु कारण सारी चीते जाणतो नथी, परंतु आ वाजींत्रनो आवाज अमितगतिना घरमां थतो होय एम लागे छे।

हिन्दी अनुवाद :- तब भानुवेग ने मुझे कहा कि इसका कारण मैं अच्छी तरह से नहीं जानता हूँ किन्तु अमितगति राजा के घर में यह वाद्य यंत्र की आवाज होने की सम्भावना है।

गाहा :-

अह चिंतियं मए किं आसन्न-पिया-समागमस्सावि ।

अब्भहिओ संतावो फुरइ य वामं तथा नयणं? ॥५॥

संस्कृत छाया :-

अथ चिन्तितं मया किमासन्नप्रियासमागमस्यापि ।

अभ्यधिकः सन्तापः स्फुरति च वामं तथा नयनम् ? ॥५॥

गुजराती अर्थ :- हवे मारुवड़े विचार्युं के शुं समीप आवेल प्रियानो समागम पण अत्यंत सन्ताप करनारो छे? अने वली मारु वामनेत्र पण फरके छे।

हिन्दी अनुवाद :- अब मैं सोचने लगा कि पास आयी प्रिया का समागम भी क्या दुःखदायक है? और मेरा वामनेत्र भी स्पन्दित हो रहा है।

गाहा :-

ता भवियव्वं केणवि एत्थ नणु कारणेण ताहे मए ।

चूयलया वाहरिया समागया अह इमं भणिया ॥६॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भवितव्यं केनाऽपि अत्र ननु कारणेन तदा मया ।

चूतलता व्याहृता समागता अथ इदं भणित्वा ॥६॥

गुजराती अर्थ :- ते थी अहीं खरेखर कोइपण कारण होवुं जोइये! त्यारे मारा बोलाववाथी आवेली चूतलताने में आ प्रमाणे पूछयुं के, -

हिन्दी अनुवाद :- इसलिये यहाँ अवश्य कुछ भी कारण होना चाहिये! तब मेरे बुलाने से आई हुई चूतलता को मैंने यह पूछा कि -

गाहा :-

कथ्य इमोतूर-रवो केणव कज्जेण, सम्ममुवलब्भ ।

आगतूणं भद्रे! सिग्घं चिय कहसु अम्हाणं ॥७॥

संस्कृत छाया :-

कुत्राऽयं तूर्यरवः केन वा कार्येण सम्यगुपलभ्य ।

आगत्य हे भद्रे! शीघ्रं चैव कथयास्माकम् ॥७॥

गुजराती अर्थ :- हे भद्रे! आ वाजीत्रिनो अवाज क्यां अने क्या कार्य थी थइ रहयो छे ते तुं सारी रीते जाणीने अहीं आवीने जल्दीथी अमने कहे।

हिन्दी अनुवाद :- हे भद्रे! यह बाजे की आवाज कहाँ और किस हेतु (कारण) से हो रही है यह सम्यग् रीति से जानकर हमें जल्दी बता।

गाहा :-

गंतूणं चूयलया खणंतराओ समागया, घणियं ।

विच्छाय-वयण-कमला पुट्ठा य मए इमं भणइ ॥८॥

संस्कृत छाया :-

गत्वा चूतलता क्षणान्तरात् समागता, बाढम् ।

म्लान^१-वदन-कमला पृष्ठा च मया इदं भणति ॥८॥

गुजराती अर्थ :- जाईने क्षणवारमां पाछी आवेली, करमायेला मुखकमलवाली अने, मारा वडे पूछायेली चूतलता आ प्रमाणे कहेवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :- जाकर पलभर में वापस आयी हुई, म्लानमुख कमल वाली चूतलता मेरे पूछने पर इस प्रकार कहने लगी।

गाहा :-

एतो विणिग्गयाए अभियगइ-गिहस्स दार-देसम्मि ।

भूरि-जण-संकुलम्मी मए न लब्धो पवेसोवि ॥९॥

१. विच्छाय

संस्कृत छाया :-

इतो विनिर्गतया अमितगति-गृहस्य द्वारदेशे ।

भूरिजन-संकुले मया न लब्धः प्रवेशोऽपि ॥९॥

गुजराती अर्थ :- अहींथी गयेली अमितगतिना घरना दरवाजा पासे पहोंची पण घणा लोकोथी खीचोखीच भरेल होवाथी मने प्रवेश पण मलयो नहीं!

हिन्दी अनुवाद :- यहाँ से निकली हुई मैं अमितगति राजा के घर के द्वार पर पहुंच गई किन्तु लोगों की भारी भीड़ होने से मुझे अन्दर प्रवेश नहीं मिला।

गाहा :-

विवाह महोत्सव

ततो य बंधुदत्तो पत्न्युय-वत्थुम्मि पुच्छिया (यो?) भणइ ।

वरणम्मि एस भद्दे! महोच्छवो कणगमालाए ॥१०॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च बंधुदत्तः प्रस्तुत-वस्तुनि पृष्टो भणति ।

वरणे एष भद्रे! महोत्सवः कनकमालायाः ॥१०॥

गुजराती अर्थ :- अने तेथी प्रस्तुत माहोलाने विषे मारुा वडे पूछायेलो बंधुदत्त कहेवा लग्यो के “हे भद्रे! कनकमालाना लग्नानो महोत्सव छे।”

हिन्दी अनुवाद :- अतः इस सन्दर्भ में प्रतिहारी बंधुदत्त से मैंने पूछा तो उसने मुझे बताया कि, “हे भद्रे! कनकमाला की शादी का यह महोत्सव है।”

गाहा :-

सिरि-गंधवाहण-सुओ गंगावत्तम्मि खयर-नयरम्मि ।

नहवाहणोत्ति सुम्मइ तस्स विइन्ना कणयमाला ॥११॥

संस्कृत छाया :-

श्रीगन्धवाहनसुतो गङ्गावर्त खेचरनगरे ।

नभोवाहन इति श्रूयते तस्मै वितीर्णा कनकमाला ॥११॥

गुजराती अर्थ :-

गङ्गावर्त नामना विद्याधरनगरगां श्रीगन्धवाहन नो पुत्र नभोवाहन छे ए प्रमाणे संभलाय छे, तेने आ कनकमाला अपाई छे।

हिन्दी अनुवाद :- गङ्गावर्त नाम के विद्याधरनगर में श्री गन्धवाहन राजा का पुत्र नभोवाहन कुमार है, ऐसा सुनाई देता है, उसे यह कनकमाला अर्पित की गई है।

गाहा :-

एवं वियाणिरूपं समागया एत्थ तुम्ह पासम्मि ।

कन्न-कडुयंपि तुम्हं साहिज्जइ मंद-भागाए ॥१२॥

संस्कृत छाया :-

एवं विज्ञाय समागता अत्र तव पार्श्वे ।

कर्णकटुकमपि तुभ्यं कथ्यते मन्दभाग्यया ॥१२॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे जाणीने अहीं तारी पासो आवीने मंदभाग्यवाली अेली हुं कर्णकटु वात पण तने कहुं छु।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार जानकर तुम्हारे पास आयी हूँ और मन्दभाग्या मैं कर्ण कटु बात तूझे सुनाती हूँ।

गाहा :-

चित्रवेग नी मूर्च्छा

तीए वयणं सोउं धसत्ति गुरु-मोगरेण पहओ हं ।

मूर्च्छा-निमीलियच्छो पडिओ भूमीए गय-चेड्डो ॥१३॥

संस्कृत छाया :-

तस्याः वचनं श्रुत्वा धसेति गुरुमुद्गरेण प्रहतोऽहम् ।

मूर्च्छा-निमीलिताक्षः पतितो भूमौ गतचेष्टः ॥१३॥

गुजराती अर्थ :- तेणी ना वचन सांभळी ने जाणे मोटा मुद्गर वडे हणायेलो हूँ, मूर्च्छाथी मींचायेली आँखवालो अने गयेली चेष्टावालो “धस” ए प्रमाणे पृथ्वी पर पड्यो।

हिन्दी अनुवाद :- उसका वचन सुनकर मानो बड़े मुद्गर से प्रहारित मैं मूर्च्छा मिलित नयनवाला निश्चेष्ट होकर “धस” इस प्रकार से पृथ्वी पर गिर पड़ा।

गाहा :-

घणसार-सार-गोसीस मीस-सलिलेण ताहि संसित्तो ।

सुकुमाल-तालविंटय-सीयल-पवणेण गय-मुच्छो ॥१४॥

संस्कृत छाया :-

घनसारसारगोशीर्षमिश्रसलिलेन तदा संसित्तः ।

सुकुमार-तालवृन्तक-शीतलपवनेन गतमूर्च्छः ॥१४॥

गुजराती अर्थ :- ते वखते कपूर-चंदनथी मिश्रित पाणीवडे सिञ्चायेलो हूँ, कोमल पंखाना शीतल-पवनवडे मूर्च्छारहित थयो।

हिन्दी अनुवाद :- उस समय कपूर-चंदन से मिश्रित पानी द्वारा सिञ्चित किए जाने पर एवं कोमल पंखों के शीतल पवन द्वारा मैं मूर्च्छारहित बना।

गाहा :-

दैवने उपालंभ

परिचिंतितुं पयत्तो पेच्छह दुक्विहिय-विलासियं विहिणो ।

पिय-संग-मणोरह-भंसणम्मि उज्जुत्त-चित्तस्स ॥१५॥

संस्कृत छाया :-

परिचिन्तयितुं प्रयतः प्रेक्षध्वं दुर्विहित-विलसितं विधेः ।

प्रियसङ्गमनोरथभ्रंशने

उद्युक्तचित्तस्य ॥१५॥

गुजराती अर्थ :-

हूँ विचारवा लाग्यो के

प्रियाना मिलन माटे ना मारा मनोरथने मांगवामां तत्पर मनवाला
विधातानी दुष्ट लीलाने जुओ!!

हिन्दी अनुवाद :- मैं सोचने लगा कि, प्रिया संग के मेरे मनोरथ को तोड़ने में तत्पर
मन वाले विधाता की दुष्ट लीला को देखो !!

गाहा :-

अहवा

अन्नह परिचिन्तिज्जइ सहरिस-कंडुज्जएण हियएण ।

परिणमइ अन्नहच्चिय कज्जारंभो विहि-वसेण ॥१६॥

संस्कृत छाया :-

अथवा

अन्यथा परिचिन्त्यते सहर्ष - कण्डुयमानेन हृदयेन ।

परिणमति अन्यथा चैव कार्यारम्भो विधिवशेन ॥१६॥

गुजराती अर्थ :-

हर्षरहित उत्कंठित हृदय कंडक अन्य चिन्तते छे
ज्यारे भाग्ययोगे कार्यारंभ कोइ अन्य प्रकारे ज परिणमे छे।

हिन्दी अनुवाद :- व्यक्ति हर्षयुक्त कुतूहल हृदय से कुछ अन्य सोचता है जबकि
भाग्य-योग से कार्यारम्भ कुछ अन्य ही होता है।

गाहा :-

कथ इमा कथ अहं अन्नोन्नं कथ गरुय-अणुरागो।

नवरं हयास-विहिणा सव्वं चिय अन्नहा विहियं ॥१७॥

संस्कृत छाया :-

कुत्रेयं कुत्राहं अन्योन्यं कुत्रा गुर्वनुरागः ।

नवरं हताश-विधिना सर्वमेवान्यथा विहितम् ॥१७॥

गुजराती अर्थ :-

आ क्यां? हूँ क्याँ? परस्पर एक बीजानो दृढ़ अनुराग
क्यां? परन्तु हणायेला विधिवड़े बधु ज अन्यथा करायुं।

हिन्दी अनुवाद :- वह कहाँ? मैं कहाँ? परस्पर एक दूसरे का दृढ़ अनुराग कहाँ?
परन्तु हताश भाग्य के द्वारा सब कुछ विपरीत किया गया!

१. कुतो

गाहा :-

पुव्वंपि हु जइ बुद्धी एरिसया आसि तुज्ज रे दिव्व! ।
ता कह मह पढमं चिय तीए सह दंसणं विहियं? ॥१८॥

संस्कृत छाया :-

पूर्वमपि खलु यदि बुद्धिः ईदृश्यासीत् तव रे दैव! ।
ततः कथं मम प्रथमं एव तया सह दर्शनं विहितम्? ॥१८॥

गुजराती अर्थ :- हे दैव! पहलेला पण जो तारी बुद्धि निश्चे आवी ज हती तो तारा वडे पहलेला ज तेणी नुं दर्शन शा माटे करवागं आव्युं?

हिन्दी अनुवाद :- हे दैव! पहले से ही तेरी मति निश्चित ऐसी ही थी तो पहले ही तुझने उसका दर्शन क्यों किया?

गाहा :-

काऊण दंसणं गरुय-राय-सहियं हयास! रे! दिव्व! ।
अन्नत्थ तं मयच्छिं जोडेंतो किं न लज्जिहिसि? ॥१९॥

संस्कृत छाया :-

कृत्वा दर्शनं गुरुक-राग-सहितं हताश! रे! दैव! ।
अन्यत्र तां मृगाक्षीं योजयन् किं न लज्जिष्यसि? ॥१९॥

गुजराती अर्थ :- हे हताश! भाव्य! गाढ़राग सहित तेणीनुं दर्शन करीने ते मृगाक्षीने बीजे जोडतो तुं शुं लज्जा नहिं पामशे?

हिन्दी अनुवाद :- हे भाग्यहीन! भाग्य! पहले गाढ़ (प्रबल) अनुराग युक्त उसका दर्शन करके अब वह मृगाक्षी अन्य को अर्पित करता हुआ तू क्या लज्जित नहीं होगा?

गाहा :-

अवि य

नयणाण पडउ वज्जं अहवा वज्जस्स वड्डिलं किंपि ।
अमुणिय-जणेवि दिट्ठे अणुबंधं जाणि कुव्वंति ॥२०॥

संस्कृत छाया :-

अपि च

नयनानां पततु वज्रं अथवा वज्रादपि महत्किमपि ।
अज्ञातजनेऽपि दृष्टेऽनुबन्धं यानि कुर्वन्ति ॥२०॥

गुजराती अर्थ :- तो पण

बधी आँखो पर वज्र पडे अथवा वज्रथी पण मोटु कोई शस्त्र पडे. के जेओ (आँखो) अज्ञात- जन्ने जोडने पण तेना पर अनुराग करे छे।

हिन्दी अनुवाद :- सर्व नयनों पर वज्र गिरे या वज्र से भी भारी अन्य कोई शस्त्र गिरे, जो अज्ञात जन को भी देखकर उसपर अनुराग करते हैं।

गाहा :-

खण-परिचय-दुल्लह-लोय-कारणे कीस हियय! तं मिहसि? ।
मुंचसु गरुय-विसायं विवरीओ हय-विही जेण ॥२१॥

संस्कृत छाया :-

क्षणपरिचित-दुर्लभलोक-कारणे कस्माद् हे हृदय! त्वं स्निह्यसि'??।

मुञ्च गुरुक-विषादं विपरीतोः हत-विधिर्येन ॥२१॥

गुजराती अर्थ :- हे हृदय! क्षणपरिचित अने दुर्लभ दर्शनवाली वस्तु पर तूं केम स्नेह करे छे? कारण के निर्लज्ज विधि विपरीत छे ते थी तूं मोटा विषाद ने छोड़ी दे।

हिन्दी अनुवाद :- हे हृदय? क्षणपरिचित व दुर्लभ दर्शनवाली वस्तु के ऊपर तूं स्नेह क्यों करता है? तूं इस भारी विषाद को छोड़ दे, क्योंकि बेशरम भाग्य प्रतिकूल है।

गाहा :-

एरिस-दुव्विसहेवि हु संजाए हिययं! गरुय-दुक्खम्मि ।

वज्ज-घडियंव मन्ने जं नवि सय-सिक्करं जासि ॥२२॥

संस्कृत छाया :-

ईदृशदुर्विसहेऽपि खलु सज्जाते हे हृदयं! गुरुदुःखे ।

वज्रघटितमिव मन्ये यद् नापि शतशर्करं यासि ॥२२॥

गुजराती अर्थ :- हे हृदय! तूं वज्र थी घडायेलु छे एम हुं मानु छु केम के सहन न थइ शके आवा प्रकार नुं मोटु दुःख आवे छते पण तारा सो टुकडा नथी थता।

हिन्दी अनुवाद :- हे हृदय! तू वज्र से घटित है ऐसा मुझे लगता है, क्योंकि ऐसा असह्य दुःख आने पर भी तू शतखण्ड नहीं होता।

गाहा :-

एमाइ-बहु-विगण्यं चिंतेमाणस्स गरुय-सोगस्स ।

तव्विरह-दूमिय-माणसस्स तइया महं कुमर! ॥२३॥

संस्कृत छाया :-

एवमादिबहुविकल्पं चिन्त्यमानस्य गुरुशोकस्य ।

तद्विरह-दावित^३-मानसस्य तदा मे हे कुमार! ॥२३॥

गुजराती अर्थ :- हे कुमार! आ प्रमाणे घणा विकल्पोने विचारतो, शोकथी भारे थयेलो अने, तेणीना विरह थी दुःखी मनवालो ट्यारे हूँ थयो!

हिन्दी अनुवाद :- हे कुमार! उस समय बहुत सारे विकल्पों से घिरा हुआ, शोक से आक्रान्त, और कनकमाला के विरह से मेरा मन बहुत दुःखी बन गया।

१. मेघसे

२. पीड़ित

गाहा :-

सोमलता नुं आगमन

पुनरवि सा सोमलया समागया किंचि हरिसियाव मणे ।

उवविद्धा मं ददुं सुदुं विसायाउरं तइया ॥२४॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

पुनरपि सा सोमलता समागता किञ्चिद् हर्षितेव मनसि ।

उपविष्टा मां दृष्ट्वा सुष्ठु विषादातुरं तदा ॥२४॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- तयारे फरीथी ते सोमलता मंनमा कांईक हर्षछेली थयेली मारी पासै आवी अने तयारे मने अतिशय खिन्न जोइने बेठी।

हिन्दी अनुवाद :- तब मानो कुछ हर्षित मनवाली सोमलता पुनः मेरे पास आयी और फिर मुझे अत्यंत विषादातुर देखकर बैठी।

गाहा :-

ता भणइ कीस सुंदर! दीससि तं दुम्णोव्व अच्चत्थं ।

सुणिउं वरणय-वत्तं, ताव निसामेसु मह वयणं ॥२५॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति कस्माद् हे सुन्दर! दृश्यसे त्वं दुर्मना इवात्यर्थम् ।

श्रुत्वा वरणवार्ता तावद् निःश्रुणुत मम वचनम् ॥२५॥

गुजराती अर्थ :- तयारुपछी कहे छे के हे सुन्दर! तूं दुर्मनस्क केम देखाय छे? लग्ननी वात सांभली ने दुःखी थयो होय तो मारा वचनने सांभळ।

हिन्दी अनुवाद :- फिर उसने मुझसे कहा - हे सुन्दर! तुम क्यों दुर्मनस्क जैसे लगते हो? यदि शादी की बात सुनकर तुम्हे चोट लगी है तो अब मेरी बात सुनो!

गाहा :-

आशाबंधन

भणियं च मए अज्जवि किं आसा कावि अत्थि अम्हाण ।

वज्जरसि जेण एवं सोमलए!, ताहि सा भणइ ॥२६॥

संस्कृत छाया :-

भणितं च मया अद्यापि किं आशा कापि अस्ति अस्माकम् ।

कथयसि येन एवं हे सोमलते! तदा सा भणति ॥२६॥

गुजराती अर्थ :- अने में पूछ्यु के हे सोमलते! शूं अत्यारे पण अमने कोई आशा छे, जे थी तूं आ प्रमाणे कहे छे? तयारे ते कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- और मैंने पूछा! हे सोमलते! अभी भी क्या कोई आशा है? जिस कारण से तूं ऐसा बोलती है, तब वह बोलती है।

गाहा :-

तुह विरहे गय-चेड्डं दड्डुणं ताव कणगमालं तु ।

चूयलया कल्लम्मि पट्टविया तुम्ह पासम्मि ॥२७॥

संस्कृत छाया :-

तव विरहे गतचेष्टां दृष्ट्वा तावत्कनकमालां तु ।

चूतलता कल्पे प्रस्थापिता तव पार्श्वे ॥२७॥

गुजराती अर्थ :- तारा विरहमां मूर्च्छित पामेली कनकमालाने जोईने मे गई काले तारी पासे चूतलता ने मोकली हती।

हिन्दी अनुवाद :- तेरे विरह से मूर्च्छित कनकमाला को देखकर मैंने तेरे पास कल ही चूतलता को भेजा था।

गाहा :-

सावि हु सहीहिं कहवि तुह संगम-सूयगेहिं वयणेहिं ।

आसासियावि वरई तुह संगमपावमाणा उ ॥२८॥

संस्कृत छाया :-

सापि खलु सखीभिः कथमपि तव संगम-सूचकैर्वचनैः ।

आश्वासितापि वराकी' तव संगममप्राप्नुवती तु ॥२८॥

गुजराती अर्थ :- ते पण तारा संगमना सूचक वचनो बोलवापूर्वक सखीओ वडे आश्वासन अपायु होवा छता ते बिचारी तारा समागमने नहीं पामती।

हिन्दी अनुवाद :- उसे भी तेरे समागम के सूचक वचन बोलकर सखियों के द्वारा आश्वासन दिया गया फिर भी निरीहा (बेचारी) तुम्हारे समागम को प्राप्त नहीं कर सकीं।

गाहा :-

खणमेत्तं मुञ्छिज्जइ उट्टियइ पुणोवि मुयइ हुंकारे ।

गायइ हसइ य वेवइ रोवइ य खणेण उत्तसइ ॥२९॥

संस्कृत छाया :-

क्षणमात्रं मूर्च्छति उत्तिष्ठति पुनरपि मुञ्चति हुंकारान् ।

गायति हसति च वेपते रोदिति च क्षणेनोत्त्रसति ॥२९॥

गुजराती अर्थ :- ते थी पलवारमां जमूर्च्छा पामे छे वली उभी थाय छे अने निःश्वास छोडे छे, गाय छे, हसे छे, रुडे छे अने वली क्षणमां त्रास पामे छे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः एक क्षण मूर्च्छित होती है, खड़ी होती है, पुनः हुंकार करती है, गीत गाती है, हंसती है, कांपती है, रोती है, पुनः भय से त्रस्त हो जाती है।

१. वराक बीचारी

गाहा :-

ग्रह-ग्रहिया इव बाला असमंजस-चेष्टियाइ कुणमाणा।
हसियावि सहि-जणेणं नवि जाणइ किंचि हय-हियया ॥३०॥

संस्कृत छाया :-

ग्रहगृहीतेव बाला असमंजस - चेष्टितानि क्रियमाणा।
हसिताऽपि सखीजनेन नाऽपि जानाति किञ्चिद् हतहृदया ॥३०॥
तिसृभिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ :- ग्रह थी ग्रस्त थयेली बालिकानी जेम असमंजस चेष्टाने करती अने सखीजन वडे हास्य पामती पण हणायेला हृदयवाली आ कोई पण जाणती नथी।

हिन्दी अनुवाद :- पागलपन से ग्रसित बालिका की तरह असमंजस चेष्टा करती हुई एवं अपनी सखियों से हास्यपात्र बनती हुई भी आघात से शून्य हृदयवाली वह कुछ भी नहीं जानती।

गाहा :-

तं पेक्खिऊण य मए विचिंतियं जाव मुयइ नो पाणे।
गुरु-अणुरागा एसा ताव उवायं विचिंतेमि ॥३१॥

संस्कृत छाया :-

तां प्रेक्ष्य च मया विचिन्तितं यावद् मुञ्चति न प्राणान्।
गुर्वनुरागादेषा तावदुपायं विचिन्तयामि ॥३१॥

गुजराती अर्थ :- तेवाप्रकारनी तेणीने जोई ने मे विचार्युं गाढ अनुरागथी ज्यां सुधीमां आ प्राणोने न छोडे त्यां सुधीमां हुं कोइक उपायने विचारुं!

हिन्दी अनुवाद :- उसकी ऐसी हालत देखकर मैंने सोचा, अति अनुराग से जब तक कनकमाला प्राणों का त्याग न करे तब तक मैं कुछ उपाय सोच लूँ।

गाहा :-

माता चित्रमाला
तत्तो तव्वुत्तंतो कहिओ गंतूण चित्तमालाए।
तज्जणणीए उ मए एगंत-गयाए सव्वोवि ॥३२॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तद्वृत्तान्तः कथितो गत्वा चित्रमालायै।
तज्जनन्यै तु मया एकान्तगतायै सर्वोऽपि ॥३२॥

गुजराती अर्थ :- त्यारपछी मे जइने ते सर्व पण वृत्तान्त एकान्तमां रहेली तेणीनी माता चित्रमालाने जणाव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् मैंने चित्रमाला माता के पास जाकर, एकान्त में वह सभी वृत्तान्त सुनाया।

गाहा :-

विन्नाय-सरूवत्था पासे आगम्म कणगमालाए ।

वज्जरइ चित्तमाला कीस तुमं पुत्ति! उद्विग्गा? ॥३३॥

संस्कृत छाया :-

विज्ञात् स्वरूपार्था पार्श्वे आगत्य कनकमालायाः ।

कथयति चित्रमाला कस्मात्त्वं हे पुत्रि! उद्विग्ना? ॥३३॥

गुजराती अर्थ :- साची हकिकतने जाणनारी चित्रमाला कनकमाला नी पासे आवीने कहे छे के, “हे पुत्रि! तूं शा कारणथी उद्विग्ने छे”?

हिन्दी अनुवाद :- सही स्थिति की जानकार चित्रमाला कनकमाला के पास आकर कहने लगी कि, “हे! पुत्री! तूं उद्विग्ने क्यों है”?

गाहा :-

अच्छसि ओसन्न-मुही भणियावि हु कीस देसि नालावं? ।

सुह-सज्झं चैव इमं मा पुत्ति! विसायमुव्वहसु ॥३४॥

संस्कृत छाया :-

आस्से, अवसन्नमुखी भणितापि खलु कस्माद् ददासि नालापम्? ।

सुखसाध्यं चैवेदं मा पुत्रि! विषाद-मुद्वह ॥३४॥

गुजराती अर्थ :- खिन्नमुखवाली थइने बेठी छे अने पूछवा छत्तं पण तूं केम काई बोलती नथी? हे पुत्रि! आ विषय सुख-साध्य छे ते थी तूं विषादने धारण न कर।

हिन्दी अनुवाद :- हे पुत्री, पूछने पर भी तूं कुछ भी प्रत्युत्तर क्यों नहीं देती है और खिन्नमुखवाली बैठी है, मगर यह विषय तो सुखसाध्य ही है, अतः तूं विषाद को धारण मत कर।

गाहा :-

अम्हाण चित्तभाणू आयत्तो तं च पुत्ति कन्ना सि ।

उच्चिओ य चित्तवेगो रूवेणं कलाहिं ज तुज्झ ॥३५॥

संस्कृत छाया :-

अस्माकं चित्रभानु-रायत्तः त्वं च पुत्रि! कन्यासि ।

उचितश्च चित्रवेगो रूपेण कलाभिर्यत्तव ॥३५॥

गुजराती अर्थ :- चित्रभानु अमारे आधीन छे वली हे पुत्रि! तूं कन्या छे तथा रूप अने कला वडे तारे चित्रवेग ज उचित छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे पुत्री! चित्रभानु हमारे अधीन है और तूं कन्या है तथा तुझे रूप एवं कला से युक्त चित्रवेग ही उचित है।

गाहा :-

तस्स य उवरिं जाओ अणुरागो तुज्झ तेण सव्वंपि ।

अणुकूलमिणं जायं मा चिंतसु अन्नहा वच्चे! ॥३६॥

संस्कृत छाया :-

तस्य चोपरि जातोऽनुरागः तव तेन सर्वमपि ।

अनुकूलमिदं जातं मा चिन्तय अन्यथा हे वत्से! ॥३६॥

गुजराती अर्थ :- अने तेनी उपर ज तने अनुराग थयो छे माटे बधु अनुकूल ज थयो छे। हे वत्से! तेथी तूं अन्यथा काई वीचार न कर।

हिन्दी अनुवाद :- और उसके ऊपर ही तेरा अनुराग भी है अतः सब कुछ ठीक ही हुआ है इसलिये हे वत्से! तूं अन्यथा कुछ भी मत सोच।

गाहा :-

किंतु तुह पुत्ति! जणओ गंगावत्तम्मि खयर-नयरम्मि ।

पासम्मि गंधवाहण-विज्जाहर-राइणो हु गओ ॥३७॥

संस्कृत छाया :-

किन्तु तव हे पुत्रि! जनको गङ्गावर्तं खेचरनगरे ।

पार्श्वे गन्धवाहनविद्याधरराज्ञः खलु गतः ॥३७॥

गुजराती अर्थ :- परन्तु हे पुत्रि! तारा पिता गङ्गावर्तनामे विद्याधर-नगरमां गन्धवाहन विद्याधर राजानी पास गेया छे।

हिन्दी अनुवाद :- किन्तु हे पुत्री! तेरे पिता गङ्गावर्त नामक विद्याधरनगर में गन्धवाहन राजा के पास गये हैं।

गाहा :-

आगच्छउ सों सिग्घं कुसलेणं ताहे तुज्झ वीवाहं ।

महया विच्छुट्टेणं कारिस्सइ चित्तवेगेण ॥३८॥

संस्कृत छाया :-

आगच्छतु स शीघ्रं कुशलेन तदा तव विवाहम् ।

महता विच्छर्देन करिष्यति चित्रवेगेन ॥३८॥

गुजराती अर्थ :- तेने कुशलपूर्वक जल्दी पाछा आवी जवा दो पछी ते मोटा महोत्सव पूर्वक चित्रवेग साथे तारो विवाह करुणो।

हिन्दी अनुवाद :- उन्हें कुशलक्षेम शीघ्र ही लौट आने दो फिर वे, बड़े महोत्सव के साथ तेरा विवाह चित्रवेग के साथ करेंगे।

गाहा :-

एसोवि चित्त-मासो वित्त-प्याउत्ति लब्धिही लगंगं।

सिग्घं चिय पुत्ति! तुमं मा काहिसि किंचि उव्वेयं ॥३९॥

संस्कृत छाया :-

एषोऽपि चैत्रमासो वृत्त (गत) प्राय इति लप्स्यते लग्नम्।

शीघ्रमेव हे पुत्रि! त्वं मा करिष्यसि किञ्चिदुद्वेगम् ॥३९॥

गुजराती अर्थ :- आम पण आ चैत्र मास प्रायः समाप्त थइ गयो छे। तेथी लग्न मुहूर्त पण जल्दी प्राप्त थशे माटे हे पुत्रि! तुं जर्रा पण उद्वेग करीश नहिं।

हिन्दी अनुवाद :- यह चैत्र मास भी अभी प्रायः पूर्ण हो गया है अतः लग्नमुहूर्त भी शीघ्र ही प्राप्त होगा। इसलिये हे पुत्री! तू तनिक भी चिन्ता नहीं करेगी।

गाहा :-

एवं निय-जणणीए भणिया सा विगय-विरह-संतावा ।

जाया मणयं सत्था समुट्टिया ताहे से जणणी ॥४०॥

संस्कृत छाया :-

एवं निज-जनन्या भणिता सा विगतविरहसंतापा ।

जाता मनाक् स्वस्था समुत्थिता तदा तस्या जननी ॥४०॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे पोतानी माता वडे कहेवायेली ते विरहना संतापथी रहित काईक स्वस्थ थई त्यारे तेनी माता उभी थई।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार अपनी माता चित्रमाला द्वारा सान्त्वना देने पर वह विरह के संताप से कुछ स्वस्थ हुई तब उनकी माता खड़ी हो गई।

गाहा :-

अमितगतिनुं आगमन

एत्थंतरम्मि सहसा समागओ ताओ खयर-नयरओ ।

अमियगई से जणओ कय-विणओ परियणेणोसो ॥४१॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे सहसा समागतस्तदा खेचर नगरात् ।

अमितगतिस्तस्या जनकः कृतविनयः परिजनेन एषः ॥४१॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां त्यारे सहसा खेचरनगरथी लेणीना पिता अमितगति आव्या अने परिजने तेमनो विनय कर्यो!

हिन्दी अनुवाद :- तभी अचानक ही खेचर नगर से उनके पिता अमितगति आये और परिजनों ने उनका स्वागत किया।

गाहा :-

ण्हाय-विलित्तो भुक्तो उवविट्टो उवरिमाए भूमि।

अहयंपि चित्तमाला-सहिया तत्थेव संपत्ता ॥४२॥

संस्कृत छाया :-

स्नात-विलिप्तो भुक्त उपविष्ट उपरिमायां भूम्याम् ।

अहमपि चित्रमाला - सहिता तत्रैव सम्प्राप्ता ॥४२॥

गुजराती अर्थ :- करेला स्नान, विलेपन अने भोजनवाला तेओ उपरनी भूमिमां बिराजमान हता त्यां ज हुं पण चित्रमाला साथे गई।

हिन्दी अनुवाद :- स्नान किये हुए, विलेपन और भोजनवाले अमितगति राजा ऊपरी मंजिल पर जहाँ विराजित थे वहाँ मैं भी चित्रमाला के साथ गई।

गाहा :-

कुसल-पउत्तिं पुच्छिय निय-दइयं ताहे चित्तमालाए ।

निय-घूयाए पउत्ती सव्वावि हु तस्स अक्खाया ॥४३॥

संस्कृत छाया :-

कुशल-प्रवृत्तिं पृष्ट्वा निजदयितं तदा चित्रमालया ।

निज दुहितुः प्रवृत्तिः सर्वापि खलु तस्मै आख्याताः ॥४३॥

गुजराती अर्थ :- पहेला पोताना स्वामीने कुशल वार्ता पूछीने त्यारबाद चित्रमालाए पोतानी पुत्रीनी समस्त वात पति अमितगतिले कही।

हिन्दी अनुवाद :- सर्वप्रथम, स्वामी का कुशल समाचार पूछकर, चित्रमाला ने पुत्री की समस्त कहानी स्वामी अमितगति को बताई।

गाहा :-

आपत्ति आववी

तं सोउं अमियगई साम-मुहो तक्खणेण संजाओ ।

भणइ अहो! अइगरुयं समागयं अम्ह वसणांति ॥४४॥

संस्कृत छाया :-

तत्श्रुत्वा अमितगतिः श्याममुखस्तत्क्षणेन सञ्जातः ।

भणति अहो! अतिगुरुकं समागतमस्माकं व्यसनमिति ॥४४॥

गुजराती अर्थ :- ते सांभलीने ते ज क्षणे अमितगति म्लानमुखवाली थयो अने बोळ्यो “अरे! आपणा पर भारे दुःख आवी पड्यु”

हिन्दी अनुवाद :- वह सुनकर अमितगति उसी क्षण म्लानमुख वाले हो गए और कहा- ‘अरे! अपने ऊपर तो बड़ी आफत आ पड़ी।’

गाहा :-

दुःख नुं कारण

तो भणइ चित्तमाला पिययम! किं कारणं नु वसणस्स? ।

तत्तो य अमियगइणा वज्जरियं पिययमे! सुणसु ॥४५॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति चित्रमाला हे प्रियतम! किं कारणं नु व्यसनस्य? ।

ततश्चामितगतिना व्याहृतं हे प्रियतमे! शृणु ॥४५॥

गुजराती अर्थ :- ते सांभलीने चित्रमालाए कहयुं “दुःख पडवानुं थुं कारण? त्यारे अमितगतिए जवाब आप्यो “हे प्रियतमा! सांभळ?

हिन्दी अनुवाद :- वह सुनकर चित्रमालाने कहा - “इसमें दुःख का क्या कारण है?” तब अमितगति ने कहा - हे प्रियतमा! सुनिए!

गाहा :-

नर-वइ-कज्जेणेत्तो गंगावत्तम्मि तम्मि नयरम्मि ।

सिरि-गंधवाहणस्स ओ पासम्मि गओ अहं तइया ॥४६॥

संस्कृत छाया :-

नरपतिकार्येणेतो गङ्गावर्त्तं तस्मिन् नगरे ।

श्रीगन्धवाहनस्य ओ पार्श्वे गतोऽहं तदा ॥४६॥

गुजराती अर्थ :- अहींथी राज्यना कार्य माटे गंगावर्त्तनगरमां श्रीगन्धवाहनराजा पासै हुं गयो हतो ते वखते -

हिन्दी अनुवाद :- राज्यकार्य के लिए यहाँ से गंगावर्त नगर में गन्धवाहन राजा के पास मैं गया उसी समय -

गाहा :-

कय-विणओ उवविट्ठो अत्थाण-गयस्स राइणो पासे ।

संभासिएण य तओ निवेइयं राय-कज्जं से ॥४७॥

संस्कृत छाया :-

कृतविनय उपविष्टोरास्थानगतस्य राज्ञः पार्श्वे ।

सम्भाषितेन च ततो निवेदितं राजकार्यं तस्य ॥४७॥

गुजराती अर्थ :- करेला विनयवालो हुं सभामां बिराजमान राजानी पासे बेठी अने परस्पर संभाषणपूर्वक त्यारे ते गन्धवाहनराजाने राज्यविषयक कार्यंनुं मे निवेदन कर्युं।

हिन्दी अनुवाद :- सभा में विराजित राजा के पास विनययुक्त मैं बैठा, और परस्पर संभाषण द्वारा गन्धवाहन राजा को राज्यविषयक कार्य का मैंने निवेदन किया।

गाथा :-

एत्थंतरम्मि सुंदरि! पडिहार-निवेइओ अणुन्नाओ।

अत्थाणम्मि पविट्ठो एगो विज्जाहर-कुमारो ॥४८॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे हे सुन्दरि! प्रतिहारनिवेदितोनुज्ञातः ।

आस्थाने प्रविष्ट एको विद्याधर-कुमारः ॥४८॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां हे सुंदरि! द्वारपालवडे राजा निवेदन कराये छते अनुज्ञा पामेल एक विद्याधर कुमार राजसभामां प्रवेश्यो।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दरी! उतनी देर में द्वारपाल द्वारा राजा को निवेदन करने पर अनुज्ञा प्राप्त करके एक विद्याधर कुमार राजसभा में आया।

गाथा :-

विहिय-पणामो रन्नो पारब्धो एरिसं स वज्जरिउं ।

विज्जाहराण राया वेयङ्गे आसि जो देव! ॥४९॥

संस्कृत छाया :-

विहितप्रणामो राज्ञः प्रारब्ध ईदृशं स व्याहर्तुम् ।

विद्याधराणां राजा वैताढ्ये आसीद् यो हे देव! ॥४९॥

गुजराती अर्थ :- राजा ने प्रणाम करीजे ते कुमारे आ प्रमाणे बोलवानो प्रारंभ कर्यो 'हे देव! वैताढ्यगिरिमां विद्याधरोना जे एक अधिपति हता।

हिन्दी अनुवाद :- राजा को प्रणाम कर के उस कुमार ने बोलना प्रारम्भ किया, "हे देव! वैताढ्यगिरि पर विद्याधरों के जो एक अधिपति थे -

गाथा :-

सुरवाहन मुनीन्द्र

संसिद्ध-सयल-विज्जो ससुरासुर-मणुय-लोय-विक्खाओ।

सुरवाहणोत्ति नामं विज्जाहर चक्कवट्ठिति ॥५०॥

संस्कृत छाया :-

संसिद्ध-सकल-विद्यः ससुरासुर-मनुज-लोक-विख्यातः ।

सुरवाहन इति नामा विद्याधर-चक्रवर्तीति ॥५०॥

गुजराती अर्थ :- जेणे समस्त विद्याओ सिद्ध करी छे-सुर-असुर-अने मानवलोकमां जे प्रसिद्ध छे, विद्याधरो मां चक्रवर्ती समान एवो सुरवाहन नामे राजा हता।

हिन्दी अनुवाद :- जिसने समस्त विद्याएं सिद्ध की थीं, तथा सुर-असुर-मानव लोक में जो प्रसिद्ध थे और विद्याधरों में चक्रवर्ती समान सुरवाहन राजा थे -

गाहा :-

अवमाण-वज्जियं जो विज्जाहर-राय-लच्छिमणुहविउं ।

बिक्खाय-जसं पुत्तं नियय-पए ठाविरुण तुमं ॥५१॥

संस्कृत छाया :-

अपमानवर्जितं यो विद्याधर-राजलक्ष्मीं अनुभूय ।

विख्यातयशसं पुत्रं निजकपदे स्थापयित्वा त्वाम् ॥५१॥

गुजराती अर्थ :- अपमानरहितपणे विद्याधरनी राज्यलक्ष्मीने अनुभविने विख्यात यशवाला पुत्ररूप आपने पोताना पद उपर स्थापन करीने -

हिन्दी अनुवाद :- अपमान रहित विद्याधर की राज्यलक्ष्मी को भोगकर विख्यात यशवाले पुत्र रूप आप को अपने स्थान पर बैठाकर -

गाहा :-

संसार-वास-भीओ नाऊण असारयं विभूर्ईए।

रज्ज-सिरिं अवउज्झिय पडग्ग-लग्गं जर-तणंव ॥५२॥

संस्कृत छाया :-

संसारवासभीतो ज्ञात्वा असारतां विभूत्याः ।

राज्यश्रियं उज्झित्वा पटाग्रलग्नं जर-तृणमिव ॥५२॥

गुजराती अर्थ :- संसारवासथी डरेला, वैभवनी असारताने जाणीने, वरत्रना अग्रभाग उपर रहेला तणखलानी जेम राज्य-लक्ष्मीनो त्याग करीने -

हिन्दी अनुवाद :- संसारवास से भयभीत, वैभव की असारता को जानकर वस्त्र के अग्रभाग के ऊपर रहे तिनके की तरह राज्य लक्ष्मी का त्याग करके -

गाहा :-

सिरि-उसहनाह-जिणवर-वज्जरियं सव्व-विरइ-रूवं जो ।

चारित्तं पडिवन्नो चित्तंगय-मुणि-वर-समीवे ॥५३॥

संस्कृत छाया :-

श्रीश्रृषभनाथजिनवर-व्याहृतं सर्व-विरतिरूपं यः ।

चारित्रं प्रतिपन्नः चित्रांगद-मुनिवरसमीपे ॥५३॥

गुजराती अर्थ :- श्रीऋषभदेवप्रभुए फरमावेल सर्वावितरितरूप चारित्रधर्मने श्री चित्रांगद मुनिवर समीपे स्वीकार्यो।

हिन्दी अनुवाद :- श्री ऋषभदेवप्रभु से उपदेशित सर्वविरतिरूप चारित्रधर्म को श्रीचित्रांगद मुनिवर के पास स्वीकृत किया।

गाहा :-

ग्रहणा-ऽऽसेवण-रूवं सिक्खं अब्भसिय गुरु-समीवम्मि ।

अहिय-सुओ पडिवज्जिय एगल्ल-विहार-पडिमं सो ॥५४॥

संस्कृत छाया :-

ग्रहणासेवनरूपां शिक्षां अभ्यस्य गुरु समीपे ।

अधीतश्रुतः प्रतिपद्य एकाकीविहार-प्रतिमां सः ॥५४॥

गुजराती अर्थ :- अने गुरु भगवंतनी समीपे ग्रहण-आसेवनरूप शिक्षानो तथा, शास्त्रोन्नो अभ्यास करीने, एकलविहारी प्रतिमाने स्वीकारीने -

हिन्दी अनुवाद :- वे सुरवाहन मुनि गुरु भगवंत के पास ग्रहण - आसेवनरूप शिक्षा का एवं शास्त्रों का अभ्यास करके, एकलविहारी प्रतिमा स्वीकार करके-

गाहा :-

छट्ट-ऽट्टम-दसम-दुवालसाइ-नाणाविहे तवो-कम्मे ।

उज्जुत्तो विहरंतो गामागर-मंडियं वसुहं ॥५५॥

संस्कृत छाया :-

षष्ठ-अष्टम-दशम-द्वादशादिनानाविधे तपःकर्मणि ।

उद्युक्तो विहरन् ग्रामाकरमण्डितां वसुधाम् ॥५५॥

गुजराती अर्थ :- छट्ट-अट्टम-चार उपवास विगेरे अनेक प्रकारना तप धर्ममां उद्युक्त गाम-आकर आदिथी विभूषित पृथ्वीतल उपर विहार करता-

हिन्दी अनुवाद :- छट्ट-अट्टम-चार उपवास, पांच उपवास इत्यादि अनेक प्रकार के तपधर्म में उद्युक्त, सर्वश्रेष्ठ ग्राम आदि से विभूषित पृथ्वीतलपर विहरण करते हुए-

गाहा :-

संपत्तो एत्थेव य वेयड्ढे चित्तकूड-सिहरम्मि ।

तुम्ह पिथा सुरवाहण-विज्जाहर-मुणिवरो अज्ज ॥५६॥

संस्कृत छाया :-

संप्राप्तोऽत्रैव च वैतादये चित्रकूटशिखरे ।

तव पिता सुरवाहन-विद्याधर-मुनिवरो अद्य ॥५६॥

गुजराती अर्थ :- ते आपना पिता सुरवाहन-विद्याधर मुनिवर आज जे आ वैताठयगिरिना चित्रकूट शिखर ऊपर पधार्यां छे।

हिन्दी अनुवाद :- सुरवाहन विद्याधर मुनिवर आज ही इस वैताढ्यगिरि के चित्रकूट नामक शिखर पर पधारे हैं।

गाहा :-

केवलज्ञान नी प्राप्ति

पडिमा-पडिवन्नस्सिह सुक्क-ज्झाणेण खविय-मोहस्स ।

लोयालोय-पयासं उप्पन्नं केवलं तस्स ॥५७॥ नवभिः कुलकम् ॥

संस्कृत छाया :-

प्रतिमा प्रतिपन्नस्य इह शुक्लध्यानेन क्षपितमोहस्य।

लोकालोक-प्रकाश-मुत्पन्नं केवलं तस्य ॥५७॥ नवभिः कुलकम् ॥

गुजराती अर्थ :- अहीं प्रतिमाने धारणकरेला, अने शुक्लध्यान वडे क्षयकरेला मोहनीयकर्मवाला, लोक-अलोकने प्रकाश करुनार तेमने केवलज्ञान उत्पन्न थयु छे।

हिन्दी अनुवाद :- वहीं प्रतिमा को धारण करके, जिसने शुक्ल ध्यान से मोहनीय कर्म का क्षय किया है ऐसे मुनिवर को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है।

गाहा :-

ततो य तस्स वयणं सोऊणं गंधवाहणो राया ।

हरिस-वस-वियसियच्छो भणइ तयं सायरं एवं ॥५८॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च तस्य वचनं श्रुत्वा गन्धवाहनो राजा ।

हर्षवशविकसिताक्षो भणति तं सादरं एवम् ॥५८॥

गुजराती अर्थ :- एवा तेना वचन सांभलीने हर्षयुक्त, विकसितनेत्रवाला गन्धवाहन राजा आदरसहित आ प्रमाणे कहेवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसे वचन सुनकर हर्ष से विकसित नेत्रवाले गन्धवाहन राजा ने आदरपूर्वक इस प्रकार कहा।

गाहा :-

भो आगच्छसु संगय! आसन्नो, अज्ज ताय-वत्ताए ।

सहलीकयं म्हे जीयं केवल-उप्पत्ति-गम्भाए ॥५९॥

संस्कृत छाया :-

भो आगच्छ संगत! आसन्नाद्य तात-वार्तया ।

सफलीकृतं मम जीवितं केवलोत्पत्तिगर्भया ॥५९॥

गुजराती अर्थ :- हे संगत! तूं माऱ्ती पासे आव, आज केवलज्ञाननी उत्पत्तियुक्त पिताजीना समाचार आपवा वडे मारू जीवन सफल कर्युं छे।
हिन्दी अनुवाद :- हे संगत! तूं मेरी पास आ, आज केवलज्ञान की उत्पत्तिसहित पिताजी के समाचार से तूने मेरा जीवन सफल बना दिया।

गाहा :-

प्रीतिदान

स-सरीर-परिहियं सो सव्वं आभरण-वत्थमाईयं।

विलइय तस्स सरीरे तत्तो भंडारियं भणइ ॥६०॥

संस्कृत छाया :-

स्वशरीर-परिहितं स सर्व-माभरण-वस्त्रादिकम्।

विलगय्य तस्य शरीरे ततो भाण्डागारिकं भणति ॥६०॥

गुजराती अर्थ :- राजाए पोताना शरीर उपर धारण करेला, सर्व आभरण-वस्त्रादि ते कुमारना शरीर पर पहेरावीने त्यार पछी भाण्डा-गारिकने आ प्रमाणे कह्युं।

हिन्दी अनुवाद :- राजा अपने शरीर पर धारित सभी आभरण-वस्त्रादि उस कुमार को पहनाकर भाण्डारिक को इस प्रकार कहता है।

गाहा :-

अद्ध-त्तेरस-कोडी पवर-सुवन्नस्स देसु एयस्स।

पीई-दाणं तत्तो तहत्ति संपाडियं तेण ॥६१॥

संस्कृत छाया :-

अर्ध-त्रयोदश-कोटी प्रवरसुवर्णस्य देहि एतस्मै।

प्रीतिदानं ततः तथेति सम्पादितं तेन ॥६१॥

गुजराती अर्थ :- 'साडाबार क्रोड श्रेष्ठ सुवर्णमुद्रा आने प्रीतिदान रूपे आपो' अने भण्डारी वडे पण 'तहत्ति' करीने ते वात स्वीकारायी।

हिन्दी अनुवाद :- इस संगतकुमार को प्रीतिदान से साढ़े बारह करोड़ स्वर्णमुद्राएं दीजिए और भण्डारी ने भी 'तहत्ति' करके आज्ञा को स्वीकार ली।

गाहा :-

मुनिवन्दन माटे प्रयाण

तयणंतरं च राया विज्जाहर-नियर-परिगओ चलिओ।

जणयस्स चित्तकूडे भत्तीए वंदण-निमित्तं ॥६२॥

विज्जा-विरइय-वर-विमाण-आरूढ-परियणाणुगओ।

सुह-नेवत्थ-विराइय-नायर-जण-परिगओ सहसा ॥६३॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

तदनन्तरं च राजा विद्याधर-निकर-परिगतश्चलितः ।

जनकाय चित्रकूटे भक्त्या वन्दन-निमित्तम् ॥६२॥

विद्याविरचित-वरविमानारूढ-परिजनानुगतः ।

शुभनैपथ्य-विराजित-नागरजन-परिगतः सहसा ॥६३॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- अने तयारबाद विद्याधरना समूहथी परिवरेलो परिजनवडे अनुसरतो, सुन्दर वस्त्रोथी शोभतो नगरजनोथी परिवरेलो राजा विद्याथी बनावेल श्रेष्ठ विमानमां आरूढ थयेलो सहसा चित्रकूट ऊपर भक्तिपूर्वक पिताजी मुनि ने वन्दन करवा माटे चाल्यो।

हिन्दी अनुवाद :- उसके बाद विद्याधर के समूह से आवृत्त, परिजन द्वारा अनुसरित, सुन्दर वस्त्रों से सुशोभित, नगरजनों से परिवृत - पिता मुनिवर को भक्ति से वन्दन करने के लिए विद्या द्वारा रचित श्रेष्ठ विमान में जल्दी से आरूढ़ हुआ।

गाहा :-

तेण सहिओ अहंपि हु चलिओ मुणि-पाय-वंदण-निमित्तं ।

अह सव्वे संपत्ता आसन्ने चित्तकूडस्स ॥६४॥

संस्कृत छाया :-

तेन सहितोऽहमपि खलु चलितो मुनिपादवन्दननिमित्तम् ।

अथ सर्वे सम्प्राप्ता आसन्ने चित्रकूटस्य ॥६४॥

गुजराती अर्थ :- तेनी साथे हुं पण मुनिभवंतना वन्दनमाटे गयो, अने बधा चित्रकूटनी नजीकमां पहुँच्या।

हिन्दी अनुवाद :- उनके साथ मैं भी मुनिभगवन्त को वन्दन करने गया, और हम सभी चित्रकूट के पास में पहुँचे।

गाहा :-

चउविह-देव-निकायं निवयंतं ददुं चित्तकूडम्मि ।

सविसेस-हरिसिय-मणो वियसिय-मुह-पंकओ राया ॥६५॥

सिग्घतरं गंतूणं बहु-जण-परिवारिओ पयत्तेण ।

सुर-कय-केवलि-महिमं थुव्वंतं दिव्व-नारीहिं ॥६६॥

दडूण मुणि-वरं तं काऊण पयाहिणं च तिव्वुत्तो ।

बहु-माण-वस-समुट्ठिय-रोमंच-चयंचिय-सरीरो ॥६७॥

भूमि-तल-लुलिय-मउडं पंचंगं करिय ताहे पणिवायं ।

पहरिस-गलंत-नयणो अह एवं थुणिउमाढत्तो ॥६८॥ चतसृभिः कलापकम् ॥

संस्कृत छाया :-

चतुर्विध-देवनिकायं निपतन्तं दृष्ट्वा चित्रकूटे ।
सविशेष-हर्षित-मना विकसित-मुख-पङ्कजो राजा ॥६५॥
शीघ्रतरं गत्वा बहुजनपरिवृतः प्रयत्नेन ।
सुरकृत-केवली-महिमानं स्तूयमानं दिव्यनारीभिः ॥६६॥
दृष्ट्वा मुनिवरं तं कृत्वा प्रदक्षिणां च त्रिःकृत्वः ।
बहुमानवश-समुत्थित-रोमाञ्च-चयाञ्चित-शरीरः ॥६७॥
भूमितललोलितमुकुटं पंचांगं कृत्वा तदा प्रणिपातम् ।

प्रहर्षगलन्नयनोऽथ एवं स्तोतुमारब्धः ॥६८॥ चतसृभिः कलापकम्
गुजराती अर्थ :- चित्रकूट उपर चारे प्रकारना देवसमूहने आवता जोईने,
सविशेष हर्षितमन वालो अने विकसित मुखकमलवालो घणा लोकोथी
परिवरेलो राजा देवोए करेला केवलीना महिमाने अब्बे देवीओवड़े स्तुति
करता जोईने जल्दी थी ते मुनिवरने त्रण प्रदक्षिणा करीने महुमानपूर्वक
अत्यंत रोमाञ्च युक्त देहवालो, भूमितल उपर स्पर्श करेला मुकुटवालो-
पंचांग प्रणिपात करीने खुश थयेला-हर्षाश्रु सहित आ प्रमाणे स्तुति करवा
लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- वहाँ चित्रकूट पर्वत के ऊपर चारो प्रकार के देव-समूह को आर्त-
हुए व देवियों, द्वारा स्तुति कराते हुए और देवों द्वारा किये हुए -
केवली की महिमा देखकर, बहुजन से परिवृत, सविशेष हर्षितमनवाला एवं विकसित
मुखकमलवाला राजा -

शीघ्र ही मुनिवर को तीन प्रदक्षिणा देकर, बहुमानयुक्त, अतिरोमाञ्चित देहवाला -
भूमितल पर स्पर्शित मुकुट द्वारा पंचांग प्रणिपात करके हर्षाश्रु - सहित इस प्रकार
स्तुति करने लगा।

गाथा :-

मुनि स्तुति

जय जय जीव-दया-वर! सुक्क-ज्झाणेण-दङ्ग-कम्म-वण! ।

वोच्छिन्न-भव-निबंधण! जाइ-जरा-मरण-दुक्ख-हर! ॥६९॥

संस्कृत छाया :-

जय जय जीव-दयापर! शुक्लध्यानेन दग्धकर्मवन! ।

व्युच्छिन्न-भवनिबन्धन! जाति-जरा-मरण-दुःखहर! ॥६९॥

गुजराती अर्थ :- शुक्लध्यानवाड़े कर्म ने बालनाट, भवना बंधनने
छेदी नाखनाट, जन्म, जरा, मरणना दुःखने हरनाट हे जीव दयापर! आप
जय पाओ जयपाओ।

हिन्दी अनुवाद :- शुक्लध्यान से दग्ध कर्मवनवाले, भवबंधन के नाशक, जन्म, जरा, मरण के दुःखहारक, हे जीव दयावर! आप की जय हो, जय हो।

गाहा :-

उत्पन्न-विमल-केवल-उवलब्ध-समत्थ-जेय-सम्भाव! ।

सासय सिव-सुह-साहण! पत्त-अहक्खाय-चारित्त! ॥७०॥

संस्कृत छाया :-

उत्पन्न-विमल-केवलोपलब्ध-समस्त-ज्ञेय-सद्भावः ।

शाश्वत-शिव-सुखसाधन! प्राप्त यथाख्यात-चारित्र! ॥७०॥

गुजराती अर्थ :- उत्पन्न थयेला विशुद्ध केवलज्ञानवडे समस्त ज्ञेय भावने जाणनार, शाश्वत-शिव-सुखना साधक! यथाख्यात चारित्रने पामेल -

हिन्दी अनुवाद :- प्रगटित विशुद्ध केवलज्ञान द्वारा समस्त ज्ञेय पदार्थों को जाननेवाले! शाश्वत शिव-सुख साधक! यथाख्यात चारित्रवान! -

गाहा :-

भयवं! अणाइ-निहणे परिब्भमंताण भव-समुहम्मि ।

दाउं हत्थालंबं अह्म समुत्तारणं कुणसु ॥७१॥

संस्कृत छाया :-

हे भगवन्! अनादि-निधने परिभ्रमतां भव-समुद्रे ।

दत्त्वा हस्तालम्बं अस्माकं समुत्तारणं कुरु ॥७१॥

गुजराती अर्थ :- हे भगवन्! अनादि अनंत संसार सागरमां परिभ्रमण करता अमने हस्तावलंबन आपीने आप आ संसारथी तारो!

हिन्दी अनुवाद :- हे भगवन्! अनादि अनंत संसार-सागर में परिभ्रमित हमको हस्तावलंबन देकर आप इस संसार से हमारा उद्धार करो।

गाहा :-

एवं थुणिऊण मुणिं मुणि-मुह-कमल-निहिय-मण-नयणो ।

उवविट्ठो धरणिए नासन्ने नाइदूरम्मि ॥७२॥

संस्कृत छाया :-

एवं स्तुत्वा मुनिं मुनि-मुख-कमल-निहित-मनोनयनः ।

उपविष्टो धरण्यां नासन्ने नातिदूरे ॥७२॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे मुनिनी स्तुति करीने मुनि ना मुख-कमल उपर स्थापन करेला मन अने नयनवाला राजा अतिदूर अने नजीक पण नही एवी पृथ्वीतल ऊपर बेठा।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार मुनिभगवन्त की स्तुति करके मुनि के मुख-कमल पर स्थापित मन और नयनवाला अतिदूर और अतिनजदीक भी नहीं ऐसी भूमि पर राजा बैठा।

गाहा :-

मुनि देशना

एत्थंतरम्मि मुणिणा परत्थ-संपायणेक्क-रसिएणं ।

गंभीर-भारईए पारब्धा देसणा एवं ॥७३॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे मुनिना परार्थ-सम्पादनैकरसिकेन ।

गम्भीर-भारत्या प्रारब्धा देशना एवम् ॥७३॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवारमां परार्थ करवामां एक रसिक एवा मुनिवडे गंभीर वाणीपूर्वक आ प्रमाणे देशनानो प्रारंभ करायो।

हिन्दी अनुवाद :- उतनी देर में परार्थ करने में रसिक ऐसे मुनि द्वारा गम्भीर वाणी से इस प्रकार देशना प्रारम्भ की गई।

गाहा :-

अइदुलहं मणुयत्तं असार-संसार-सागर-गयाणं ।

कुगईण पउर-भावा स-कम्म-वसगाण जीवाणं ॥७४॥

संस्कृत छाया :-

अतिदुर्लभं मनुजत्वं असार-संसार-सागरगतानाम् ।

कुगतिनां प्रचुर-भावात् स्वकर्मवशगानां जीवानाम् ॥७४॥

गुजराती अर्थ :- 'हे भव्यात्माओ! आ अत्तार संत्तार सागरमां भ्रमण करता, पोताना कर्मवशा जीवोने पुष्कळ कुगतिना प्रचुर भावोनी वत्त्वे मनुष्यपणु अतिदुर्लभ छे।'

हिन्दी अनुवाद :- 'हे भव्यात्मन्! इस असार संसार सागर में भ्रमित, स्वकर्मवश, जीवों को कुगति के प्रचुर भावों के बीच में मनुष्यत्व अतिदुर्लभ है।'

गाहा :-

तंपि हु जराभिभूयं आवासो रोग-सोग-वाहीणं ।

शारीर-माणसाणेय-दुक्ख-संपाय-कलियंति ॥७५॥

संस्कृत छाया :-

तदपि खलु जराभि-भूत मावासो रोगशोकव्याधीनाम् ।

शारीरमानसानेक-दुःख-संपातकलितमिति ॥७५॥

गुजराती अर्थ :- वळी ते मनुष्यपणु जराधी पराभव पावेल शारीरिक-मानसिक अनेक दुःखना संतापथी युक्त, अने रोग-शोक, व्याधीना आवास तुल्य छे।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः वह मनुष्यत्व जरा से अभिभूत, शारीरिक-मानसिक अनेक दुःखों से संतप्त और रोग, शोक, व्याधि के आवास तुल्य हैं।

गाहा :-

पवणाहय-धय-वड-चंचलाओ लच्छीओ तहय मणुयाणं।

अणवद्विया य नेहा सुहि-सयण-पियाइ-जण-विसया ॥७६॥

संस्कृत छाया :-

पवनाहत-ध्वजपट-चञ्चला लक्ष्मीः तथा च मनुष्याणाम्।

अनवस्थिताश्च स्नेहा सुहृत्-स्वजनप्रियादि-जनविषयाः ॥७६॥

गुजराती अर्थ :- मनुष्योनी लक्ष्मी पवनथी फरकती ध्वजपताका समान चञ्चल छे अने मित्रो-स्वजनो तथा पित्रादि परिवार विषयक स्नेह अस्थिर छे।

हिन्दी अनुवाद :- मनुष्यों की लक्ष्मी पवन से झूलती पताका समान चञ्चल है और मित्र, स्वजन तथा पित्रादि परिवार विषयक स्नेह अस्थिर है।

गाहा :-

विसय-सुहंपि हु परिणाम-दारुणं नारयाइ-दुह-हेऊ ।

आरंभ-परिग्रह-संचियस्स पावस्स परिणामो ॥७७॥

संस्कृत छाया :-

विषयसुखमपि खलु परिणामदारुणं नारकादि-दुःखहेतुः।

आरम्भ-परिग्रह-सञ्चितस्य पापस्य परिणामः ॥७७॥

गुजराती अर्थ :- विषयसुख पण निश्चे परिणामे भयंकर नारकादि दुःखना कारण रूप छे अने आरंभ-परिग्रहथी सञ्चित थयेला पापनो ज परिणाम छे।

हिन्दी अनुवाद :- निश्चय ही विषय सुख भी भयंकर नारकादि दुःख के हेतु हैं और यह आरंभ-परिग्रह से सञ्चित किए पाप का ही फल है।

गाहा :-

अइभीसणेण बंधेण गरुय-पीडावहो खु जीवाणं।

मिच्छा-वियप्प-वसओ सव्वंपि हु सोक्खमाभाइ ॥७८॥

संस्कृत छाया :-

अतिभीषणेन बन्धेन गुरुपीडावहः खलु जीवानाम् ।

मिथ्याविकल्पवशतः सर्वमपि खलु सौख्य-माभाति ॥७८॥

गुजराती अर्थ :- अतिभीषण एवा बन्धन वड़े जीवो अतिभारे पीडाने वहन करनारा थाय छे तो पण मिथ्या विकल्प ना वशाथी बधु सुख रूप लागे छे।

हिन्दी अनुवाद :- प्रबलतम बन्धन द्वारा जीव को भारी पीड़ा सहनी पड़ती है फिर भी मिथ्या विकल्पवश उसे सभी में सुख ही सुख महसूस होता है।

गाहा :-

अणवरय-संपयट्टो मच्चू अवहरइ जीव-संघायं ।

एवं च ठिए भो भो भद्दा!सम्मं विचिंतेह ॥७९॥

संस्कृत छाया :-

अनवरतसम्प्रवृत्तो मृत्यु-रपहरति जीवसङ्घातम् ।

एवं च स्थिते भो! भो! भद्रा सम्यग् विचिन्तयत ॥७९॥

गुजराती अर्थ :- निरंतर प्रवृत्त थलो मृत्यु रूपी सुभट जीव समूहनुं अपहरण करे छे। आ प्रमाणे संसारनी स्थिति होते छते हे! भद्र जीवो! तमे सारी रीते विचार करो।

हिन्दी अनुवाद :- निरन्तर कार्य में प्रवृत्त मृत्यु रूपी यमराज जीवसमूह का अपहरण करता है। इसी प्रकार संसार की स्थिति है। अतः हे भद्रजीवो! तुम सम्यक् प्रकार विचार करो।

गाहा :-

केवलि-भणियं धम्मं मोत्तुणं नत्थि किंचि अन्नंति ।

सरणं भव-भीयाणं भवियाणं भव-निबुद्धाणं ॥८०॥

संस्कृत छाया :-

केवलिभणितं धर्मं मुक्त्वा नास्ति किञ्चिदन्यदिति ।

शरणं भवभीतानां भविकानां भवनिमग्नानाम् ॥८०॥

गुजराती अर्थ :- भवमां डूबेला प्राणीओने तथा भवथी डरेला भव्यो ने केवली भगवंते कहेला धर्म सिवाय बीजा कोईनु पण शरण नथी।

हिन्दी अनुवाद :- संसार में निमग्न एवं भव से भयभीत भव्यों को केवली प्ररूपित धर्म के अतिरिक्त कोई भी शरण नहीं है।

गाहा :-

तम्हा कुणह पयत्तं दुलहं लद्धूण माणुसं जम्मं ।
जिण-इंद-भणिय-धम्मे सासय-सिव-सोक्ख हेउम्मि ॥८१॥

संस्कृत छाया :-

तस्मात् कुरु प्रयत्नं दुर्लभं लब्ध्वा मानुष्यं-जन्म ।
जिनेन्द्रभणित-धर्मे शाश्वत-शिव-सौख्यं हेतौ ॥८१॥

गुजराती अर्थ :- तेथी दुर्लभ एवा मनुष्यजन्मने पामीने शाश्वत-शिवसुखना कारण समान जिनेश्वर भगवंते कहेल धर्ममां प्रयत्न करो।

हिन्दी अनुवाद :- अतः दुर्लभ मनुष्य जन्म मे शाश्वत-शिव-सुख के कारण रूप जिनेश्वर भगवंत प्ररूपित धर्म में यत्न कीजिए।

गाहा :-

सावज्ज-कज्ज-वज्जण-रूवं परिगेण्हरूण पव्वज्जं ।
खविरूण कम्म-सत्तुं सासय-सोक्खं वयह मोक्खं ॥८२॥

संस्कृत छाया :-

सावद्यकार्य-वर्जन-रूपां परिगृह्य प्रवज्याम् ।
क्षपयित्वा कर्मशत्रुं शाश्वत-सौख्यं व्रजत मोक्षम् ॥८२॥

गुजराती अर्थ :- सावद्यकार्यना त्याग रूप प्रवज्याने स्वीकारीने कर्मशत्रुनो क्षय करीने शाश्वत-सुखरूप मोक्ष ने पामो।

हिन्दी अनुवाद :- सावद्यकार्य के त्याग रूप प्रवज्या को स्वीकार कर कर्मशत्रु का क्षय कर के शाश्वत-सुख के धाम तुल्य मोक्ष को प्राप्त करो।

गाहा :-

इय केवलिणा भणिए विणिवेसिय करयलंजलिं सीसे ।
वज्जरइ मंधवाहणराया उ तहत्ति जं भणह ॥८३॥

संस्कृत छाया :-

इति केवलिना भणिते विनिवेश्य कर-तलाज्जलिं शीर्षे ।
कथयति गन्धवाहनराजा तु तथेति यद् भणत ॥८३॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे केवली भगवंते कहे छते मस्तक ऊपर अज्जलि जोड़ीने गन्धवाहनराजा 'हे प्रभु! आप कहे छे तेम ज छे' तेम बोल्या।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार केवली भगवंत के उपदेश को सुनकर मस्तक पर अञ्जलि जोड़कर गन्धवाहनराजा ने इस प्रकार कहा - हे प्रभो! आप कहते हैं वैसा ही है।

गाहा :-

दाउं विज्जा-नियरं रज्जेण समं तु नियय-पुत्तस्स ।

नहवाहणस्स ततो करोमि गिह-वास-चायंति ॥८४॥

संस्कृत छाया :-

दत्त्वा विद्यानिकरं राज्येन समं तु निजकपुत्राय ।

नभोवाहनाय ततः करोमि गृहवास-त्यागमिति ॥८४॥

गुजराती अर्थ :- मारा पुत्र नभवाहनने राज्य सहित विधिपूर्वक समस्त विद्या आपीने हुं गृहवासने त्याग करीश्या (ए प्रमाणे कहयुं।)

हिन्दी अनुवाद :- और अपने पुत्र नभवाहन को राज्य सहित विधिपूर्वक समस्त विद्या देकर मैं गृहवास का त्याग करूंगा।

गाहा :-

राज प्रश्न

एत्थंतरम्मि सुंदरि! पत्थावं जाणिऊण पुच्छाए ।

विहिय पणामेण मए पुट्ठो मुणि-केवली एवं ॥८५॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे हे सुन्दरि! प्रस्तावं ज्ञात्वा पृच्छायाः।

विहितप्रणामेन मया पृष्टो मुनि-केवली एवम् ॥८५॥

गुजराती अर्थ :- तरतज ते समये हे सुन्दरि! अवसर जाणीने प्रणाम करीने में आ प्रमाणे केवली भगवंतने पूछ्यु।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुन्दरी! उसी समय पूछने का अवसर जानकर प्रणाम करके मैंने केवली भगवंत को इस प्रकार पूछा।

गाहा :-

लोयालय-विलोयण-केवल-नाणेण नाय-भावस्स ।

पच्चक्खं हि भयवओ एयं जमहं तु पुच्छिस्सं ॥८६॥

संस्कृत छाया :-

लोकालोकविलोकन-केवलज्ञानेन ज्ञातभावस्य।

प्रत्यक्षं खलु भगवत एतद् यदहं तु प्रक्ष्यामि ॥८६॥

गुजराती अर्थ :- लोकालोकने साक्षात् नीहालनार एवा केवलज्ञानवडे प्रत्यक्ष जाण्या छे समस्त भावोने जेमणे तेवा आप पूज्यपाद भगवंतने हुं आ प्रमाणे पूछु छु।

हिन्दी अनुवाद :- केवलज्ञान द्वारा लोकालोक को देखने से सम्पूर्ण पदार्थ के भावों को प्रत्यक्ष से जाननेवाले भगवंत! मैं आपको इस प्रकार पूछता हूँ।

गाहा :-

एककच्चिय मह धूया जाया विज्जाण-रूव-संपुत्रा ।

पाणाणवि वल्लहिया नामेणं कणगमालत्ति ॥८७॥

संस्कृत छाया :-

एकैव मम दुहिता जाता विज्ञानरूपसम्पूर्णा ।

प्राणादपि वल्लभिका नाम्ना 'कनकमाला' इति ॥८७॥

गुजराती अर्थ :- ज्ञान अने रूपना भंडार प्राणथी पण अधिक प्रिय नामवडे "कनकमाला" ए प्रमाणे मारे एक ज पुत्रि छे।

हिन्दी अनुवाद :- विज्ञान और रूप से सम्पूर्ण, प्राण से भी अधिक प्रिय 'कनकमाला' इस प्रकार के नामवाली मुझे इकलौती पुत्री है।

गाहा :-

धूयाए को भत्ता होही मण-वल्लहोत्ति एयाए ।

चिंताए मह हिययं भयवं! निच्चंपि अक्खलियं ॥८८॥

संस्कृत छाया :-

दुहितुः को भर्ता भविष्यति मनोवल्लभ इति एतस्याः (एतया) ।

चिन्तया मम हृदयं हे भगवन्! नित्यमपि अस्खलितम् ॥८८॥

गुजराती अर्थ :- हे भगवन्! आ मारी पुत्रिनो मनवल्लभ स्वामी कोण थथे ए प्रमाणेनी चिन्ताथी मारू मन हंमेसा आकुल-व्याकुल रहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे भगवान्! यह मेरी पुत्री का मनवल्लभ भर्ता कौन होगा? इस प्रकार की चिन्ता से मेरा मन निरंतर आकुलित रहता है।

गाहा :-

ता मण-निव्वुइ-हेउं साहिज्जउ एस अम्ह (व) वुत्तंतो ।

पाणिग्रहणं तीए का किर विज्जाहरो काही? ॥८९॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् मनो-निवृत्ति-हेतुं कथ्यतां एषो अस्माकं वृत्तान्तः ।

पाणिग्रहणं तस्याः कः किल विद्याधरः करिष्यति? ॥८९॥

गुजराती अर्थ :- तेथी मन नी शांतिने माटे आ वृत्तान्त मने कहे के तेणीनु पाणि-ग्रहण क्यो विद्याधर करथे?

हिन्दी अनुवाद :- अतः मन की निःवृत्ति हेतु मुझे कहिए कि इसका पाणिग्रहण कौन से विद्याधर के साथ होगा?

गाहा :-

एवं च पुच्छिएणं केवलिणा सुयणु! एरिसं भणियं ।

मा भद्र! कुण विसायं थोवं चिय एत्थ वत्थुम्मि ॥९०॥

संस्कृत छाया :-

एवं च पृष्टेन केवलिना हे सुतनो! ईदृशं भणितम् ।

मा हे भद्र! कुरु विषादं स्तोकमेव अत्र वस्तुनि ॥९०॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे पूछायेला केवलीवडे आ प्रमाणे कहेवायु हे सुतनु! हे भद्र! आ अल्प वस्तुने विषे तूं खेद न पाम।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार पूछने से केवली भगवंत द्वारा कहा गया, हे सुतनु! भद्र! इस अल्प वस्तु के विषय में तूं तनिक भी खेद न कर।

गाहा :-

तुह धूयाए भत्ता सो होही जो इम्मि वेयड्डे ।

गुण-कलियं पालिस्सइ विज्जाहर-चक्कवट्टित्तं ॥९१॥

संस्कृत छाया :-

तव दुहितुः भर्ता स भविष्यति योऽस्मिन् वैताढ्ये ।

गुणकलितं पालयिष्यति विद्याधर-चक्रवर्तित्वम् ॥९१॥

गुजराती अर्थ :- आ वैताढ्यमां गुणसम्पन्न, एवु विद्याधरोमां चक्रवर्ति पणु पामथो ते तारी पुत्रीनो स्वामी थथो।

हिन्दी अनुवाद :- इन वैताढ्य के विद्याधरों में गुण सम्पन्न ऐसा चक्रवर्ती पद जो प्राप्त करेगा वही तेरी पुत्री का स्वामी होगा।

गाहा :-

पुव्व-भव-नेह-बद्धा तुह धूया तस्स पाण-वल्लहिया ।

होही सयलंतेउर-ललाम-भूया महादेवी ॥९२॥

संस्कृत छाया :-

पूर्वभवस्नेहबद्धा तव दुहिता तस्य प्राणवल्लभा ।

भविष्यति सकलान्तःपुर-ललाम-भूता महादेवी ॥९२॥

गुजराती अर्थ :- पूर्वभवन्ता स्नेहथी बंधायेली तारी पुत्री लेनी प्राणवल्लभा थथो तथा सकल अन्तःपुरमां तिलक समान महादेवी थथो।

हिन्दी अनुवाद :- पूर्वभव के स्नेह तन्तु से बंधी हुई तेरी पुत्री उनकी प्राणवल्लभा बनेगी तथा सकल अन्तःपुर में तिलक समान महादेवी होगी।

गाहा :-

केवलि-वयणं सोउं संजाओ मज्झ गरुय-आणंदो ।

एत्थंतरम्मि राया समुट्ठिओ वंदिऊण मुणिं॥१३॥

संस्कृत छाया :-

केवलि-वचनं श्रुत्वा सञ्जातो मम गुरुकानंदः ।

अत्रान्तरे राजा समुत्थितो वन्दित्वा मुनिम्॥१३॥

गुजराती अर्थ :- केवलिना वचन सांभळीने मने बहुज आनंद थयो
अटलीबारमां राजा मुनिने वन्दन करीने उभो थयो।

हिन्दी अनुवाद :- केवली के वचन सुनकर मुझे बहुत ही आनंद आया, उतनी देर
में मुनि को वन्दन कर के राजा उठा।

गाहा :-

तत्तो रत्ना सहिओ समागओ तम्मि चेव नयरम्मि ।

अह रत्ना हं भणिओ बहु-माण-जुयं इमं वयणं॥१४॥

संस्कृत छाया :-

ततो राज्ञा सहितः समागतः तस्मिन्नेव नगरे ।

अथ राज्ञा अहं भणितो बहुमानयुक्तं इदं वचनम्॥१४॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी राजा सहित ते ज नगरमां हुं आव्यो अने
राजाए मने बहुमानयुक्त आ प्रमाणे वचनो कह्या।

हिन्दी अनुवाद :- अतः राजा सहित मैं भी वही नगर में आया और राजा ने बहुमान
युक्त वाणी से मुझे इस प्रकार कहा।

गाहा :-

कनकमालानी मांगणी

अइवल्लहावि धूया दायव्वा ताव कस्सइ नरस्स ।

जं एसा लोग-ट्टिई तेणम्हे एरिसं भणिमो॥१५॥

संस्कृत छाया :-

अतिवल्लभापि दुहिता दातव्या तावत् कस्मै नराय ।

यदेषा लोकस्थितिः तेन वयं ईदृशं भणामः॥१५॥

गुजराती अर्थ :- हे अमितगति!

अतिप्रियपुत्री पण कोई पण मनुष्यने आपवानी होय छे। कारण के
आवी लोकस्थिति छे तेथी हुं आ प्रमाणे कहुं छु।

हिन्दी अनुवाद :- अतिप्रियपुत्री भी किसी भी मनुष्य को देनी ही है क्यों कि ऐसी
लोक की रीति है अतः मैं इस प्रकार कहता हूँ।

गाहा :-

नहवाहणस्स दिज्जउ सा कज्जा जेण वित्त-वीवाहं ।

नियय-पए ठविऊणं सेवामो ताय-पय-जुयलं ॥९६॥

संस्कृत छाया :-

नभोवाहनाय दीयतां सा कन्या येन वृत्तविवाहम् ।

निजकपदे स्थापयित्वा सेवामहे तातपदयुगलम् ॥९६॥

गुजराती अर्थ :- आपनी ते पुत्री मारा पुत्र नभोवाहन ने आपो जेथी विवाहकरीने मारा स्थाने तेने स्थापिने हुं पिताना चरणकमलनी सेवा करूं।

हिन्दी अनुवाद :- आपकी पुत्री मेरे पुत्र नभोवाहन को दीजिए जिससे उसका विवाह करके, अपने स्थान पर स्थापित करके पिताजी के चरणकमल की मैं सेवा करूं।

गाहा :-

तत्तो मएवि भणियं एत्थत्थे नत्थि किंचि वत्तव्वं ।

धूया कित्तियमेत्तं पाणावि हु तुम्ह आयत्ता ॥९७॥

संस्कृत छाया :-

ततो मयापि भणितं अत्रार्थं नास्ति किञ्चिद् वक्तव्यम् ।

दुहिता कियन्मात्रं प्राणा-अपि खलु तवायत्ताः ॥९७॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी में कहयुं - "आ संबंधी आपने कांई कहेवानुं ना होय पुत्री तो शुं ? मारा प्राण पण आपने आधीन छे।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सुनकर मैंने कहा - इस विषय में आपको कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है, पुत्री तो क्या? मेरे प्राण भी आपके अधीन हैं।

गाहा :-

सच्चिय धूया धन्ना सुणहा जा होइ देव-पायाणं ।

केवलि-गिरावि सच्चा जं किज्जइ एरिसे विहिए ॥९८॥

संस्कृत छाया :-

सैव दुहिता धन्या स्नुषा या भवति देवपादानाम् ।

केवलि गिरोऽपि सत्या यत्क्रियते ईदृशे विधौ ॥९८॥

गुजराती अर्थ :- ते पुत्री ने पण धन्य छे के जे आपनी पुत्रवधू थशे, आ प्रमाणे कराये छते केवलीभगवंतनी वाणी पण सत्य थशे।

हिन्दी अनुवाद :- वह मेरी पुत्री कनकमाला भी धन्य है जो आपकी पुत्रवधू होगी और इस प्रकार केवली भगवन्त की वाणी भी सत्य होगी।

गाहा :-

तुम्ह सुयं मोत्तुणं वेयङ्ग-गिरिमि होज्ज को अन्नो ।

विज्जाण चक्कवट्ठी जस्स पिया होज्ज मह धूया? ॥१९॥

संस्कृत छाया :-

तव सुतं मुत्तवा वैताढ्य गिरौ भवेत्कोन्यः ।

विद्यानां चक्रवर्ती यस्य प्रिया भवेद् मम दुहिता? ॥१९॥

गुजराती अर्थ :- आ वैताढ्य पर्वत उपर तारा पुत्रने छोडीने बीजो कोण विद्याधरोनो चक्रवर्ती होय जेनी प्रिया मारी पुत्री होय?

हिन्दी अनुवाद :- इस वैताढ्य पर्वत पर आपके पुत्र नभोवाहन के अतिरिक्त दूसरा कौन विद्याधरों का चक्रवर्ती हो सकता है जिसकी प्रिया मेरी पुत्री हो?

गाहा :-

लग्न निरूपण

एवं च मए भणिए वियसिय-वयणेण राइणाणत्तो ।

सोमजसो जोइसिओ विवाह-लग्गं निरूवेसु ॥१००॥

संस्कृत छाया :-

एवं च मयि भणिते विकसित-वदनेन राज्ञा आज्ञप्तः ।

सोमयशो ज्योतिष्को विवाहलग्नं निरूपय ॥१००॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे मारा वडे कहेवाये छते प्रफुल्लित वदनवाळा राजावडे सोमयश ज्योतीषि आहा करायो के विवाहनुं मुहूर्त बतावो!

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार मेरे कहने से विकसित मुखवाले राजा द्वारा सोमयश ज्योतीषि आज्ञा पाया कि विवाह का मुहूर्त बताओ!

गाहा :-

तत्तो जोइसिएणं सम्मं आलोचिऊण आइट्टं ।

वइसाह-सुद्ध-पंचमि-रत्तीए सोहणं लग्गं ॥१०१॥

संस्कृत छाया :-

ततो ज्योतिष्केन सम्यगालोच्य आदिष्टम् ।

वैशाख-सुदि-पञ्चमी-रात्र्यां शोभनं लग्नम् ॥१०१॥

गुजराती अर्थ :- त्याच पछी सारी रीते जोईने वैशाख सुद पांचमनी रात्रीमां लग्ननुं शुभ मुहूर्त आवे छे एम ज्योतीषिए कहयुं।

हिन्दी अनुवाद :- तब अच्छी तरह से देखकर वैशाख सुदी पंचमी की रात्रि में लग्न का शुभ मुहूर्त आता है, ऐसा ज्योतिषि ने कहा।

गाहा :-

ततो य मए भणियं आएसं देह जेण गंतूण ।

निय-नयरे संजुत्तिं विवाह-कज्जस्स कारेमि ॥१०२॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितं आदेशं ददस्व येन गत्वा ।

निजनगरे संयुक्तिं विवाहकार्यस्य कारयामि ॥१०२॥

गुजराती अर्थ :- तयार पछी में कह्युं - 'मने आदेश आपो जेथी पोताना नगरमां जईने विवाह नी सामग्री तैयार करावुं।

हिन्दी अनुवाद :- अतः मैंने कहा, "मुझे आज्ञा दीजिए, जिससे अपने नगर में जाकर मैं विवाह की सामग्री तैयार कराऊं।

गाहा :-

तेणाणुन्नाओ हं सिग्घं चिय आगओ इहं सुयणु ।

रायामच्चेहि समं चंदजसा-ऽऽइच्च-नामेहिं ॥१०३॥

संस्कृत छाया :-

तेन अनुज्ञातोऽहं शीघ्रमेवागत इह सुतनो ।

राज-अमात्यैः समं चन्द्रयश-आदित्य-नामभिः ॥१०३॥

गुजराती अर्थ :- "हे सुतनु! आज्ञा पाभेलो हूँ गन्धवाहन राजाना चन्द्रयश, आदित्य आदि मन्त्री साथे तुरत अहीं आव्यो।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुतनु! आज्ञा पाकर गन्धवाहन राजा के चन्द्रयश, आदित्य आदि मन्त्रियों के साथ मैं शीघ्र ही यहाँ आया हूँ।

गाहा :-

एएवि कणगमाला-वरणत्थं आगया मए समयं ।

कल्ले पभाय-समए किल होइ वरणयं तीए ॥१०४॥

संस्कृत छाया :-

एतेऽपि कनकमालावरणार्थ-मागता मया समकम् ।

कल्ये प्रभातसमये किल भवति वरणं तस्याः ॥१०४॥

गुजराती अर्थ :- आ बधा पण कनकमालाना विवाह माटे मारी साथे आव्या छे आवतीकाले सवारे तेणीनो लग्न महोत्सव छे।

हिन्दी अनुवाद :- यह सभी भी कनकमाला के विवाह के लिए मेरे साथ आए हैं। कल प्रातः समय उनके लग्न का महोत्सव है।

गाहा :-

एवं च ठिए

एसा एक्का घूया सुट्टु पिया ताव कणगमालम्ह ।

एईए अणुराओ संजाओ चित्तवेगम्मि ॥१०५॥

संस्कृत छाया :-

एवं च स्थिते

एषा एका दुहिता सुष्ठु प्रिया तावत् कनकमाला आवयोः।

एतस्या अनुरागः सञ्जातः चित्रवेगे ॥१०५॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे स्थिति थये शुं करवु ?

आपणी आ एक ज कनकमाला अत्यंत प्रिय पुत्री छे। अने एणीने चित्रवेग उपर अनुराग थयो छे।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार की स्थिति होने पर क्या करें।

यह कनकमाला अपनी इकलौती एवं अतिप्रिय पुत्री है और उसको चित्रवेग पर अनुराग हुआ है?

गाहा :-

अमितगति नी चिंता

ता जइ मणोऽणुकूलं संपाडिस्सं न एक्क-धूयाए ।

एईयवि, ता सुंदरि! किंच मए जीविणंति? ॥१०६॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् यदि मनोनुकूलं संपादयिष्यामि नैकदुहित्रे ।

एतस्यै अपि तस्माद् हे सुन्दरि! किं च मया जीवितेन इति ॥१०६॥

गुजराती अर्थ :- तेथी जो आ पुत्रीनो एक पण मनोरथ पूर्ण न करी शकूं तो हे सुन्दरी! मारा जीववा वडे शुं?

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे सुन्दरी! यदि इस पुत्री का मैं एक भी मनोरथ पूर्ण न कर सकूं तो मेरे जीने से भी क्या लाभ?

गाहा :-

उवयारेणं महया विमग्गिया राइणा सुय-निमित्तं ।

सिरि-गंधवाहणेणं मएवि दिन्ना इमा तस्स ॥१०७॥

संस्कृत छाया :-

उपचारेण महता विमार्गिता राज्ञा सुतनिमित्तम् ।

श्रीगन्धवाहनेन मया अपि दत्ता इयं तस्मै ॥१०७॥

गुजराती अर्थ :- मोटा गौरवपूर्वक श्रीगन्धवाहनराजा वडे पुत्र माटे आपणी पुत्रीनी मांगणी करायी अने लागणीवशा में वात रवीकारी पुत्री तेने आपी दीधी।

हिन्दी अनुवाद :- बड़े गौरवपूर्वक श्रीगन्धवाहन राजा ने पुत्र नभोवाहन के लिए अपनी पुत्री की याचना की और (प्रेमवश हो) मैंने भी बात स्वीकार ली।

गाहा :-

तं च इयाणिं अन्नहकाउं चाइज्जए न जं सुयणु!।

एण्ण करणेणं मे भणियं आगयं वसणं ॥१०८॥

संस्कृत छाया :-

तं च इदानी-मन्यथा कर्तुं शक्यते न यद् हे सुतनो! ।

एतेन कारणेन मया भणित-मागतं व्यसनम् ॥१०८॥

गुजराती अर्थ :- अने अत्यारे ते वचन अन्यथा करवा माटे पण हुं समर्थ नथी आ कारणथी हे सुतनु! कष्ट आती पड्यु एम में कह्यु!

हिन्दी अनुवाद :- अभी वह वचन अन्यथा करने के लिए भी मैं समर्थ नहीं हूँ इसी कारण से हे सुतनु! कष्ट आया ऐसा मैंने कहा।

गाहा :-

चित्रमालानी चिंता

एव प्रिययम-वयण सोऊणं चित्तवेग! संजाया ।

मह सामिणीवि विच्छाय-वयणिया चित्तमालत्ति ॥१०९॥

संस्कृत छाया :-

एवं प्रियतम-वचनं श्रुत्वा हे चित्रवेग! सज्जाता ।

मम स्वामिनी अपि विच्छायवदना चित्रमालेति ॥१०९॥

गुजराती अर्थ :- 'हे चित्रवेग! आ प्रमाणे प्रियतमनां वचन सांभलीने मारी स्वामिनी चित्रमाला पण बहु दुःखी थई।

हिन्दी अनुवाद :- हे चित्रवेग! इस प्रकार प्रियतम के वचन सुनकर मेरी स्वामिनी चित्रमाला भी बहुत दुःखी हुई।

गाहा :-

तत्तो तीए भणियं मह चित्ते फुरइ एरिसं ताव।

परिचयइ कणगमाला तव्विरहे जीवियमवस्सं ॥११०॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तया भणितं मम चित्ते स्फुरति ईदृशं तावत् ।

परित्यजति कनकमाला तद्विरहे जीवितं अवश्यम् ॥११०॥

गुजराती अर्थ :- ते छतां ते चित्रमाला वडे कहेवायु-मारा चित्त मां आ प्रमाणे स्फुरण थाय छे। 'ते चित्रवेगना विरह थी कनकमाला अवश्य प्राण त्यागशे।'

हिन्दी अनुवाद :- फिर भी चित्रमाला ने कहा - 'मेरे चित्त में ऐसा स्पन्दन होता है कि चित्रवेग के विरह से कनकमाला अवश्य प्राण छोड़ेंगी।'

गाहा :-

कहकहवि मए जं सा तप्पावण-सुयगेहिं वयणेहिं ।

पुविं संधीरविया एयं पुण अन्नहा जायं ॥१११॥

संस्कृत छाया :-

कथं कथमपि मया यत् सा तत्प्रापणसूचकैः वचनैः ।

पूर्वं धैर्यमापादिता एतत् पुनरन्यथा जातम् ॥१११॥

गुजराती अर्थ :- प्रिय प्राप्ति ना सूचक वचनोवडे केमे करीने में एने धैर्य आप्यु। वली आ तो बीजु ज थयु।

हिन्दी अनुवाद :- प्रिय प्राप्ति आगमन सूचक वचन कहकर बहुत मुश्किल से मैंने धैर्य दिलाया था और यहाँ कुछ और ही हो गया।

गाहा :-

भणियं च अमियगइणा एवं हि ठिए करेमि किं सुयणु! ।

जइ ताव न देमि इमं तो राया रूसइ अवस्सं ॥११२॥

संस्कृत छाया :-

भणितंच अमितगतिना एवं खलु स्थिते करोमि किं हे सुतनो! ।

यदि तावन्न ददामि इमां ततो राजा (रुष्यति) रुष्येदवश्यम् ॥११२॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे अमितगतिए कहयु - 'आ प्रमाणे कष्ट आवे हे सुतनु! हुं शुं करूं? जो पुत्री ने न आपु तो अवश्य राजा रोष पामश्ते।

हिन्दी अनुवाद :- तब अमितगति ने कहा - 'हे सुतनु! इस प्रकार के कष्ट में मैं क्या करूं? यदि पुत्री न दूं तो राजा अवश्य क्रोधित होगा।'

गाहा :-

केवलि-वयणा रन्नो अइगरुओ एत्थ आयरो जाओ।

तेण इमाइ अदाणे अइगरुयं होइ मह खूणं ॥११३॥

संस्कृत छाया :-

केवलिबचनाद् राज्ञो अतिगुरुको अत्रादरो जातः।

तेन अस्या अदाने अतिगुरुकं भवति मम क्षुणम् (हानि) ॥११३॥

गुजराती अर्थ :- वली केवली भगवंतना वचन थी ते राजानो कनकमाला उपर घणो आदर थयो छे माटे हां कहीने अत्यारे नहीं आपवा मां बहुमोटु अनर्थ थश्ते।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः केवली भगवंत के वचन से कनकमाला पर बहुत आदर है अतः हां कहकर उसे राजा को न देने से भारी अनर्थ होगा।

गाहा :-

रुष्टेण तेण वेयङ्क-नग-वरे जं न होइ आवासो ।

अइथोवं चिय एयं, अन्नंपि विरूवयं होइ ॥११४॥

संस्कृत छाया :-

रुष्टेन तेन वैताढ्य-नगवरे यज्ञ भवति आवासः ।

अतिस्तोकं एव एतद् अन्यदपि विरूपकं भवति ॥११४॥

गुजराती अर्थ :- राजा दोष पावे छते वैताढ्य-नगरमां रहेवु पण मुश्केल थाय आ तो अल्प कष्ट छे अने बीजु अनिष्ट आवी शके छे।

हिन्दी अनुवाद :- और राजा रूष्ट होने पर इस वैताढ्य-नगर में रहना भी भारी हो जायेगा यह तो अल्प कष्ट है और भी दूसरे अनिष्ट हो सकते हैं।

गाहा :-

अन्नं च

गिण्हस्सइ मड्डाइवि राया एयं न एत्थ संदेहो ।

ताव वरं सयमेव य समप्पिया नेह-विन्दीए ॥११५॥

संस्कृत छाया :-

अन्यच्च। गृहीष्यति बलात्कारादपि राजा एतां नात्र सन्देहः।

तावद् वरं स्वयमेव च समर्पिता स्नेह-वृद्धयै ॥११५॥

गुजराती अर्थ :- अने वली

पुत्री न आपीए तो बलात्कार थी पण ते ग्रहण करथो एमां कोई सन्देह नथी। तेना करता स्नेहवृद्धि माटे आपणे स्वयं ज आपवी श्रेष्ठ छे।

हिन्दी अनुवाद :- पुत्री को नहीं देंगे तो भी बलात्कार से ले लेगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, उससे तो स्वयं ही अर्पित करना श्रेष्ठ होगा; इससे स्नेहवृद्धि भी होगी।

गाहा :-

जइ पुण दिज्जइ एसा राय-सुयं मोत्तु चित्तवेगस्स ।

ता तस्सवि अम्हाणवि पाणाणवि संसओ होइ ॥११६॥

संस्कृत छाया :-

यदि पुनः दीयते एषा राजसुतं मुक्त्वा चित्रवेगाय ।

तदा तस्यापि अस्माकमपि प्राणानां अपि संशयो भवति ॥११६॥

गुजराती अर्थ :- वली जो आ राजपुत्रने छोडीने चित्रवेगने अपाय तो तेना अने आपणा पण प्राणोन्तो संशय थाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः ये पुत्री राजपुत्र को छोड़ चित्रवेग को दी जायेगी तो चित्रवेग और अपने सभी के प्राणों का भी संशय होगा।

गाहा :-

ता सुंदरि! न हु कज्जं अत्रेहिं एत्थ बहु-विगप्पेहिं ।

तह भणसु कणगमालं जह उज्झइ तम्मि अणुरायं ॥१७॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् हे सुन्दरि! न खलु कार्य-मन्यै-रत्र बहुविकल्पैः ।

तथा भण कनकमालां यथा उज्झति तस्मिन्नुरागम् ॥१७॥

गुजराती अर्थ :- आथी हे सुन्दरि! अहीं बीजा विकल्पो वड़े सर्थु ते प्रमाणे कनक-मालाने समजाव जेथी ते चित्रवेग पर थयेला अनुरागने छोडी दे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः हे सुन्दरि! अन्य विकल्पों को छोड़कर कनकमाला को ही समझा दे, जिससे वह चित्रवेग पर अनुराग छोड़ दे।

गाहा :-

किं च

उत्तम-कुल-प्पसूओ पियंवओ सयल-जण-मणाणंदो।

सुरो धीरो चाई निय-पिउ-लच्छी-अलंकरिओ ॥११८॥

संस्कृत छाया :-

किं च

उत्तमकुलप्रसूतः प्रियंवदः सकल-जनमन-आनंदः।

शूरो धीरः त्यागी निजपितृलक्ष्म्यलंकृतः ॥११८॥

गुजराती अर्थ :- उत्तमकुलमां उत्पन्न थयेला, प्रियबोलनार, सकल जनना मनने आनंद-आपनार, शूर, धीर, त्यागी पिताजी लक्ष्मी थी अलंकृत।

हिन्दी अनुवाद :- उत्तमकुल में उत्पन्न हुआ, प्रियवक्ता, सकल जनों के मन को आनन्दित करनेवाला, शौर्यवान, धैर्यवान, त्यागी पिता की लक्ष्मी से अलंकृत।

गाहा :-

रूवेण जोव्वणेण य कलाहिं विज्जाहिं निम्मल-गुणेहिं।

विक्कवाओ नहवाहण-कुमरो सव्वम्मि वेयड्ढे ॥११९॥

संस्कृत छाया :-

रूपेण यौवनेन च कलाभिः विद्याभिः निर्मलगुणैः।

विख्यातो नभोवाहनकुमारः सर्वस्मिन् वैताड्ये ॥११९॥

गुजराती अर्थ :- रूपवडे यौवनवडे कलावडे, विद्यावडे अने निर्मलगुणों वडे, आ सम्पूर्ण वैताढ्यमां प्रख्यात नभोवाहन राजकुमार छे।

हिन्दी अनुवाद :- रूप, यौवन, कला, विद्या आदि निर्मल गुण-युक्त इस सम्पूर्ण वैताढ्य में प्रख्यात नभोवाहन राजकुमार है।

गाहा :-

तत्तो स एव भक्ता कमागओ होउ कणगमालाए।

न हु कज्जं अत्रेणं अवाय-बहुलेण पुरिसेणं॥१२०॥

संस्कृत छाया :-

ततः स एव भर्ता क्रमागतो भवतु कनकमालायै।

न खलु कार्यं अन्येनापाय-बहुलेन पुरुषेण॥१२०॥

गुजराती अर्थ :- तेथी क्रम परंपराथी प्राप्त थयेल आ ज कनकमालानो पति थाओ, बीजा अपाय बहुल सवा पुरुषवडे सर्यु।

हिन्दी अनुवाद :- अतः क्रम परम्परा से प्राप्त यही पुरुष कनकमाला का पति हो दूसरे अपाय बहुल पुरुष से क्या काम है?

गाहा :-

एवं च अमियगइणा भणियाए ताहि चित्तमालाए।

भणिया हं सोमलए! किं जुत्तं संपयं काउं?॥१२१॥

संस्कृत छाया :-

एवं च अमितगतिना भणितया तदा चित्रमालया।

भणिता अहं सोमलते! किं युत्तं साम्प्रतं कर्तुम्॥१२१॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे आ प्रमाणे अमितगतिवडे कहेवायेली चित्रमाला द्वारा हुं कहेवाइ - “हे सोमलते! हमणां करवा माटे शु योग्य छे?”

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा अमितगति द्वारा कही गई चित्रमाला ने मुझसे कहा, “हे सोमलते! अब हमें क्या करना उचित होगा?”

गाहा :-

तत्तो य मए भणियं तं चेव य इत्थ गहिय-परमत्था।

निय-घूयाए सरूवस्स एत्थ किमहं भणामित्ति?॥१२२॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितं त्वमेव चात्र गृहीतपरमार्था।

निजदुहितुः स्वरूपस्यात्र किमहम् भणामीति?॥१२२॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे मे कहयुं - तमे पोते ज कनकमालानो विचार चात्ती रीते जाणो छे आ स्वरूपमां आपने हुं शु कहुं?

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने कहा, आप स्वयं ही कनकमाला के भाव सम्यक् रूप से जानते हो, अतः इस विषय में मैं आपको क्या कहूँ?

गाहा :-

तो भणइ चित्तमाला तीए गंतूण भावमुवलभसु ।

इच्छइ व नवा अत्रं पुरिसं गुण-दोस-कहणेण? ॥१२३॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति चित्रमाला तस्या गत्वा भाव-मुपलभस्व ।

इच्छति वा न वा अन्यं पुरुषं गुणदोषकथनेन? ॥१२३॥

गुजराती अर्थ :- त्यारे चित्रमालाए कह्यु तेणीनी पासे जईने अन्य पुरुषना गुण के दोष कहेवाथी ते अन्यपुरुषने ईच्छे छे के नही ते तेणीना भावने तुं जाण।

हिन्दी अनुवाद :- तभी चित्रमालाने मुझसे कहा - तूं उनके पास जा और अन्य पुरुष के गुण और दोष कहने पर क्या वह उसकी इच्छा करती है उसके इन भावों को पहचान।

गाहा :-

नहवाहणं पसंसिय अब्भहिय-गुणेहिं, निंदिकुणन्नं ।

तह कुणसु जहा इच्छइ वीवाहं एय-तणएण ॥१२४॥

संस्कृत छाया :-

नभोवाहनं प्रशंस्याभ्यधिकगुणैः निन्दित्वा अन्यम् ।

तथा कुरु यथा इच्छति विवाहं एतत्तनयेन ॥१२४॥

गुजराती अर्थ :- नभोवाहननी अधिकगुणो वड़े प्रशंसा करीने अने अन्यनी निन्दा करीने आ नभवाहननी साथे लग्न करे ते प्रमाणे तुं कर।

हिन्दी अनुवाद :- नभवाहन कुमार की अत्यधिक प्रशंसा एवं अन्य की निन्दा कर तू ऐसा कर जिससे कनकमाला नभवाहन से शादी कर सके।

गाहा :-

ततो य मए भणियं सामिणि! किं तं न याणसि सभावं ।

निय-घूयाए जेणं आएसं देसि मह एवं ॥१२५॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया भणितं हे स्वामिनि! किं त्वं न जानासि स्वभावम्? ।

निजदुहितुः येन आदेशं ददासि मम एवम् ॥१२५॥

गुजराती अर्थ :- आथी मे कह्यु - हे स्वामिनी ! थुं तुं तारी पुत्रीना स्वभावने जाणती नथी के जेथी आ प्रमाणे मने आदेश आपे छे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः मैंने कहा, हे स्वामिनी! क्या आप पुत्री के स्वभाव से अज्ञात हो? किं आप इस प्रकार मुझे ऐसा आदेश दे रही हो।

गाहा :-

मन्त्रिस्सइ वीवाहं जं सा अण्णस्स, अच्छउ सुदूरं।

सोउं पउत्तिमेयं मन्ने जीयं परिच्चयइ ॥१२६॥

संस्कृत छाया :-

मन्ता विवाहं यत् सा अन्यस्य आस्तां सुदूरम्।

श्रुत्वा प्रवृत्तिमेतां मन्ये जीवितं परित्यजेत् ॥१२६॥

गुजराती अर्थ :- ते बीजानी साथे लग्न करे ते वात तो दूर रहो पण हुं मान्नु छु के प्रवृत्तिमात्रने सांभली ने पण ते प्राणोन्तो त्याग करशो!

हिन्दी अनुवाद :- अन्य पुरुष के साथ शादी की तो बात दूर रही किन्तु प्रवृत्तिमात्र सुनते ही वे प्राणो को छोड़ देगी, ऐसा मुझे लगता है।

गाहा :-

मह वयणं सोऊणं गुरु-दुक्ख-समाहया भणइ ततो।

वियलंत-सकज्जल-नयण-सलिल-सामलिय-गंड-यला ॥१२७॥

संस्कृत छाया :-

मद् वचनं श्रुत्वा गुरुदुःख-समाहता भणति ततः।

विचलत्-सकज्जल-नयनसलिल-श्यामलित-गण्डस्थला ॥१२७॥

गुजराती अर्थ :- मारा वचनने सांभलीने नेत्रोमांथी काजल अश्रुने बहावती तेना गंडस्थल भीना थइ ग्या तथा भारेदुःखथी आघात पामेली आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- मेरे वचन सुनकर नेत्र से कज्जल सहित अश्रु को बहाती उसके कपोल भी भीग गये हैं, तथा भारी दुःख से पीड़ित वह इस प्रकार बोलने लगी।

गाहा :-

जं भणसि तुमं भद्रे! मज्झवि हिययम्मि फुरइ तं सच्चं।

नवरं हयास-विहिणो वसेण अइ-दुक्करं जायं ॥१२८॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

यद् भणसि त्वं हे भद्रे! ममापि हृदये स्फुरति तत् सत्यम्।

नवरं हताशविधेर्वशेनातिदुष्करं जातम् ॥१२८॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- हे भद्रे! तू जे बोले छे मारा हृदयमां पण ते ज सत्य लागे छे। परंतु हताश पामेल विधिना वशथी अतिदुष्कर दुःख आवी पड्यु छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे भद्र! तू जो कहती है वही सत्य है किन्तु भाग्य में कष्ट होने से अतिदुष्कर दुःख आ गिरा है।

गाहा :-

ततो अङ्गुरु-सोमं रुयमाणिं पिच्छिऊण निय-दइयं।

वज्जरियममियगइणा सुंदरि! किं एत्थ रुन्नेणं? ॥१२९॥

संस्कृत छाया :-

ततो अतिगुरूशोकां रुदन्तीं प्रेक्ष्य निजदयिताम्।

कथितं अमितगतिना हे सुन्दरि! किमत्र रुदितेन ॥१२९॥

गुजराती अर्थ :- त्वारपछी अत्यंतशोकथी रडती छवी पोतानी पत्नीने जोईने अमितगति-बोळ्यो हे सुन्दरी! अहीं रडवा वडे शुं ?

हिन्दी अनुवाद :- तत्पश्चात् अत्यंतशोक से रोती अपनी पत्नी को देखकर अमितगति ने कहा, हे सुन्दरी! अब रोने से क्या लाभ?

गाहा :-

किं मह थोवं दुक्खं नवरं न चएमि अन्नहाकाउं।

सुइरंपि चिंतिऊणवि लभामि नन्नं उवायंति ॥१३०॥

संस्कृत छाया :-

किं मम स्तोके दुःखं नवरं न शक्नोम्यन्यथाकर्तुम्।

सुचिरमपि चिन्तयित्वापि लभे नान्यदुपाय-मिति ॥१३०॥

गुजराती अर्थ :- तारा करता मारू आ दुःख शुं अल्प छे? परंतु अन्यथा करवा माटे मारी शक्ति नथी अने तांबा समय सुधी विचार करता पण बीजो कोई उपाय मळतो नथी।

हिन्दी अनुवाद :- तेरी अपेक्षा मेरा यह दुःख क्या कम है? किन्तु अतिरिक्त कुछ करने के लिए मेरा सामर्थ्य नहीं है तथा दीर्घकाल तक सोचने पर भी अन्य उपाय नहीं मिलता है।

गाहा :-

तम्हा महिला-गाहं मोत्तूणं आयइं निरूवेसु।

राय-सुयस्स अदाणे दोसे य गुणे विचिंतेसु ॥१३१॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् महिला-आग्रहं मुत्तवा आयतिं निरूपय।

राजसुताय अदाने दोषान् च गुणान् विचिन्तय ॥१३१॥

गुजराती अर्थ :- आथी तूं स्त्रीबुद्धिने छोडीने भावीनो विचार कर नभोवाहन राजकुमारने नहीं आपवामां दोषो अने गुणोनो विचार कर।

हिन्दी अनुवाद :- अतः तू स्त्रीबुद्धि को छोड़कर आगे की सोच, राजपुत्र नभोवाहन कुमार को नहीं देने पर उससे होने वाले गुण-दोष या हानि-लाभ इत्यादि का विचार कर।

गाथा :-

अन्नं च

कणगमाला बहु-माण-परा हु जणणि-जणगाणं ।

पडिकूलिस्सइ वयणं न अम्ह गुण-दोस-कहणेण ॥१३२॥

संस्कृत छाया :-

अन्यञ्च

कनकमाला बहुमानपरा खलु जननी-जनकयोः।

प्रतिकूलयिष्यति वचनं नावयोः गुणदोष-कथनात् ॥१३२॥

गुजराती अर्थ :- कनकमाला माता-पिता उपर निश्चे बहुमान वाली छे। आ कारणथी आपणा गुण दोष कहेवावडे ते आपणु वचन प्रतिकूल नहीं करे।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः कनकमाला को माता-पिता पर आदर भाव है अतः लाभः हानि के कारण वह प्रतिकूल आचरण नहीं करेगी।

गाथा :-

अन्नं च, कन्नगाए भत्ता किल होइ गुरु-अणुजाओ ।

तदणुजाए य जओ सयंवराईवि कीरंति ॥१३३॥

संस्कृत छाया :-

अन्यञ्च

कन्याया भर्ता किल भवति गुरु-अनुजातः।

तदनुज्ञया च यतः स्वयंवरादयोऽपि क्रियन्ते ॥१३३॥

गुजराती अर्थ :- वळी

गुरु (माता-पिता) वडे आन्ना पमायेल पुरुष ज कन्यान्तो पति थाय छे। अने तेओनी आन्नावडे ज स्वयंवर विगेरे पण कराय छे।

हिन्दी अनुवाद :- पुनः माता-पिता द्वारा निर्देशित पुरुष ही कन्या का पति होता है और उन्हीं के निर्देश में ही स्वयंवर आदि भी किया जाता है।

गाथा :-

किंच

नहवाहण-राय-सुओ जाव न दिट्ठीइ गोयरे पडइ ।

तावच्चिवय अणुराओ इमीए अन्नमि पुरिसम्मि ॥१३४॥

संस्कृत छाया :-

किंच

नभोवाहन-राजसुतो यावन्न दृष्ट्या गोचरे पतति।

तावदेवानुरागोऽस्या अन्यस्मिन् पुरुषे ॥१३४॥

गुजराती अर्थ :- ज्यांसुधी नभोवाहन-राजाकुमारने दृष्टिवडे जोयो नथी त्यांसुधी ज आने अन्य पुरुष उपर राग छे।

हिन्दी अनुवाद :- जब तक नभवाहन कुमार को दृष्टि से नहीं देखा है तब तक ही उसे अन्य पुरुष पर राग है।

गाहा :-

निज्जिय-अणंग-रूवे दिट्ठे उण तम्मि होहिही रागो ।

ता किं सुंदरि! बहुणा विगप्प-संकप्प-जालेण ॥१३५॥

संस्कृत छाया :-

निर्जितानङ्ग-रूपे दृष्टे पुनस्तस्मिन् भविष्यति रागः ।

तस्मात् किं हे सुन्दरि! बहुना विकल्पसंकल्पजालेन ॥१३५॥

गुजराती अर्थ :- कामदेवना रूपने पण जीतनाट ते कुमारने जोया पळी तेणीने तेना उपर ज राग थशे। आथी हे सुन्दरी! अहीं घणा संकल्प-विकल्प करवा वडे सर्यु?

हिन्दी अनुवाद :- कामदेव के रूप को पराजित करने वाले इस कुमार को देखने के बाद उसका राग उस पर ही होगा, अतः हे सुन्दरी! संकल्प-विकल्प को छोड़ दे।

गाहा :-

गंतूण कणगमालं सुनिउण-वयणेहिं भणसु तं सुयणु! ।

एयम्मि वइयरम्मि जह अम्हं होइ न हु वसणं ॥१३६॥

संस्कृत छाया :-

गत्वा कनकमालां सुनिपुणवचनैः भण त्वं हे सुतनो! ।

एतस्मिन् व्यतिकरे यथा अस्माकं भवति न खलु व्यसनम् ॥१३६॥

गुजराती अर्थ :- अने हे सुतनु! तूं ते कनकमाला पासे जईने युक्तियुक्त वचनो वडे समजाव, जेथी आ प्रसंगमां आपणने कोई कष्ट न थाया।

हिन्दी अनुवाद :- तथा हे सुतनु! तू कनकमाला को ऐसे युक्तियुक्त वचनों द्वारा उसे समझा कि इस प्रसंग में अपने को कोई भी कष्ट न आये।

गाहा :-

एवं च अमियगइणा भणियाए ताहि चित्तमालाए।

भणिया हं सोमलाए! पिययम-वयणं लहुं कुणसु ॥१३७॥

संस्कृत छाया :-

एवं च अमितगतिना भणितया तदा चित्रमालया ।

भणिताहं सोमलते! प्रियतम-वचनं लघु कुरु ॥१३७॥

गुजराती अर्थ :- अने आ प्रमाणे अमितगतिवडे कहेवायेली चित्रमालाए त्याचे मने कहयु - 'हे सोमलते! तूं प्रियतमना वचन ने अती शीघ्र पूर्ण कर'।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार अमितगति द्वारा कही गयी चित्रमाला ने मुझसे कहा, हे सोमलते! प्रियतम का वचन यथा शीघ्र पूर्ण करा।

गाहा :-

तत्तो तहत्ति भणित्तं समुट्ठिया जाव ताहि मे पुट्ठा।

चंदण-नामा चेडी कत्थच्छइ कणगमालत्ति? ॥१३८॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तथेति भणित्वा समुत्थिता यावत्तदा मया पृष्टा।

चन्दन नामा चेटी कुत्रास्ते 'कनकमाला' इति? ॥१३८॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी 'ते प्रमाणे थाओ' एम कहीने जैटलीवारगां उठीने त्यां गईं अने में चन्दन नामनी दासीने पूछ्यु - 'हे चन्दन कनकमाला क्यां छे?'

हिन्दी अनुवाद :- "इसी प्रकार हो" ऐसा कहकर जितनी देर में मैं-उठकर वहाँ गई तो पुत्री न दिखाई देने से "चन्दन" दासी को पूछा? कनकमाला कहाँ है?

गाहा :-

तीए भणियं एसा उवरिम-भूमीओ उत्तरेऊण।

गिह-उज्जाणाभिमुहा गच्छइ विच्छाय-मुह-कमला ॥१३९॥

संस्कृत छाया :-कनकमालानो पश्चात्ताप

तया भणितं एषा उपरितन-भूमितः उत्तीर्य।

गृहोद्यानाभिमुखा गच्छति विच्छायमुखकमला ॥१३९॥

गुजराती अर्थ :- तेणीए कहयुं! 'ए तो आपणा प्रासादना उपरना मालथी नीचे उतरीने निस्तेज मुखवाली आपणा उद्यान तरफ गई छे।'

हिन्दी अनुवाद :- उसने कहा - 'निस्तेज मुखवाली वो तो अपने प्रासाद के ऊपरी मंजिल से घर के उद्यान की ओर गई है।'

गाहा :-

तं सोऊण विगप्पो उप्पन्नो मह मणम्मि एरिसओ।

नूणं अलक्खियाए पिउ-वयणं तीए निसुयंति ॥१४०॥

संस्कृत छाया :-

तत्कृत्वा विकल्प उत्पन्नो मम मनसि ईदृशः।

नूनमलक्षितया पितृवचनं तया निःश्रुतम्-इति ॥१४०॥

गुजराती अर्थ :- ते सांभलीने मारा मनमां आवा प्रकारनो विकल्प उत्पन्न थयो. निश्चे छूपि रीते तेणीए पित्ताना वचन सांभलया हथे।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सुनकर मेरे चित्त में विकल्प उत्पन्न हुआ निश्चय ही छुपकर इसने पिता के वचन सुने हैं।

गाहा :-

तेणेव इमा मन्ने जाया विच्छाय-वयणिया बाला ।

ता जाव एत्थ गंतुं विरूवमायरइ नवि किंचि ॥१४१॥

संस्कृत छाया :-

तेनैवेयं मन्ये जाता विच्छायवदना बाला ।

तस्माद् यावदत्र गत्वा विरुपक-माचरति नापि किंचित् ॥१४१॥

गुजराती अर्थ :- तेथी ज आ म्लानमुखवाली थई छे तेम हुं मानु छु।

तेथी ज्यांसुधी जईने ते कांई विरुद्ध आचारण करे नहीं।

हिन्दी अनुवाद :- वह इसी कारण म्लानमुखवाली हुई है ऐसा मानती हूँ, अतः वह जाकर जहाँ तक कोई विरुद्ध आचरण नहीं करेगी।

गाहा :-

ता सिग्घं चिय गंतुं निवारणे तीए उज्जमामित्ति ।

एवं विचिंतयंती अणुमग्गेणेव चलिया हं ॥१४२॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

तावत् शीघ्रं एव गत्वा निवारणे तस्या (उद्यमं करोमि) उद्यच्छामि इति।

एवं विचिन्तयन्ती अनुमार्गेण इव चलिताऽहम् ॥१४२॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- तेथी हुं जल्दी जईने तेणीना आत्मघातादीना निवारणमां उद्यमवंत थउं एम विचारीने ते ज मार्गने अनुसरती गई।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सोचकर उसी मार्ग का अनुसरण करती उनका अशुभ निवारण करने के लिए मैं वहाँ गई।

गाहा :-

पत्ता य घरुज्जाणे इओ तओ तग्गेवसण-निमित्तं ।

जा परियडामि अहयं घण-तरु-यर-संकडिल्लम्मि ॥१४३

संस्कृत छाया :-

प्राप्ता च गृहोद्याने इतस्ततः तद्-गवेषण-निमित्तम् ।

यावत् पर्यटामि अहं घनतरुवर-संकटे ॥१४३॥

गुजराती अर्थ :- गाढ़ वृक्षथी व्याप्त गृहउद्यानमां पंढोची अने तेने शोधवामाटे अहीं - तहीं ज्यां सुधीमां भमु छु त्यां सुधीमां -

हिन्दी अनुवाद :- गाढ़ वृक्ष से व्याप्त गृहोद्यान में जाकर उन्हें खोजने के लिए चारों ओर घूमती थी उतने में -

गाहा :-

घण-पत्तल-कयली-हर-मणोहरे तत्थ एग-देसम्मि।

पत्तल-तमाल-तरु-तल-हेड्ड-निविट्टा मए दिट्टा।।१४४।।

संस्कृत छाया :-

घन-पत्रल-कदलीगृह-मनोहरे तत्र एकदेशे।

पत्रल-तमाल-तरुतलाधो-निविष्टा मया दृष्टा।।१४४।।

गुजराती अर्थ :- गाढ़ पत्रवाला कदलीगृहथी मनोहर त्यांना एकदेशामां पत्रोथी छवायेला तमालवृक्षनी नीचे बेठेली में जोई।

हिन्दी अनुवाद :- गाढ़ पत्रवाले कदलीगृह से मनोहर वहाँ के एकदेश में पत्रों से व्याप्त तमाल वृक्ष के नीचे बैठी हुई मैंने देखी।

गाहा :-

किं-किंपि चिंतयंती गलंत-थूलंसु-सित्त-गंड-यला।

अणहुंत-मण-समीहिय-गुरु-दुक्खा कणगमालत्ति।।१४५।।

संस्कृत छाया :-

किं किमपि चिन्तयंति गलत्स्थूलाश्रुसित्त-गंडस्थला।

अभवन्मनःसमीहित-गुरुदुःखा कनकमालेति।।१४५।।

गुजराती अर्थ :- ते प्रसंगे कांई पण विचार करती, झरता मोटा आंसू वड़े भीजायेला गण्डस्थलवाली मनोवांचित न थवाथी भारे दुःखथी दुःखित कनकमाला देखाती हती!

हिन्दी अनुवाद :- उस वख्त कुछ-कुछ सोचती हुई, बड़े-बड़े आंसू से प्लावित हुए कपोलवाली मनोवांचित इच्छा पूर्ण न होने से भारी दुःख से दुःखित दिखाई देती थी।

गाहा :-

तत्तो विचिंतियं मे किं मन्ने निय-गिहं पमोत्तूण।

एगागिणी हु एसा समागया एत्थ उज्जाणे?।।१४६।। युग्मम्।।

संस्कृत छाया :-

ततो विचिन्तितं मया किं मन्ये निजगृहं प्रमुच्य।

एकाकिनी खलु एषा समागता अत्रोद्याने?।।१४६।। युग्मम्।।

गुजराती अर्थ :- त्यारे मे विचार्युं - के आ पोतानु घर छोडी ने अहीं आ बगीचामां एकली केम आवी छे।

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने सोचा - कि यह अपना घर छोड़कर एकाकिनी उद्यान में क्यों आयी है?

गाहा :-

ता एईइ अदिद्वा पच्छन्न-ठिया निएमि जं कुणति।

वित्राय-सरूवत्था एसा निय-जणय-वयणस्स॥१४७॥

संस्कृत छाया :-

तस्मादेतस्या अदृष्टा प्रच्छन्नस्थिता पश्यामि यत् करोति।

विज्ञातस्वरूपार्था एषा निज-जनक-वचनस्य ॥१४७॥

गुजराती अर्थ :- आ कारणशी पोताना पिताना वचनना सारने जाणेली आ जे करे ते हुं एणीने नहि देखाती छूपी रीते जोउं।

हिन्दी अनुवाद :- पिताजी के वचन के भावार्थ को जानकर यह यहाँ अकेली जो करे उसे मैं यहा छुपकर देखूं।

गाहा :-

एवं विचिंतिंऊणं तुण्हक्का कयलि-थंभ-अंतरिया।

खणमेगं जा चिद्दामि तत्थ ता सुणसु जं जायं॥१४८॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य तूष्णीका कदलिस्तंभान्तरिता ।

क्षणमेकं यावत् तिष्ठामि तत्र तावत् श्रुणु यज्जातम्॥१४८॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे विचारीने मौन पूर्वक कदलिवृक्षनी अंदर छुपायेली एक क्षण मात्र उभी छुं तेटलीवारमां त्यां जे थयु ते तुं सांभळ।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सोचकर मौनपूर्वक कदलीवृक्ष के भीतर छुपकर क्षण-मात्र खड़ी हूँ उतने में वहाँ जो हुआ वह सुन।

गाहा :-

दीहं नीससिऊणं एवं भणियं तु कणगमालाए।

अज्जवि किमित्थ बहुणा विगप्प-संकप्प-जालेणं?॥१४९॥

संस्कृत छाया :-

दीर्घं निःश्वस्य एवं भणितं तु कनकमालया।

अद्यापि किमत्र बहुना विकल्प-संकल्प-जालेणं?॥१४९॥

गुजराती अर्थ :- दीर्घनिःश्वासने छोडीने कनकमाला आ प्रमाणे बोलवा लागी - “हवे घणा संकल्प-विकल्प करवाथी काई थवानुं नथी।”

हिन्दी अनुवाद :- दीर्घ निःश्वास छोड़कर कनकमाला इस प्रकार बोलने लगी, “अब संकल्प-विकल्प करने से कोई फायदा नहीं है।”

गाहा :-

सुचिरं विचिंतिरुणवि तेण जणेणं न संगमो ताव।

पुन्न-रहियाए मज्झं हय-विहिणो विलसिय-वसेण।।१५०।।

संस्कृत छाया :-

सुचिरं विचिन्त्याऽपि तेन जनेन न सङ्गमो तावत्।

पुन्यरहिताया मम हत-विधेः विलसित-वसेन।।१५०।।

गुजराती अर्थ :- लांबा काल सुंधी विचारीने पण पुण्यरहित, मारो दुर्दैवना विलास ने कारणे चित्रवेग साथे समागम न थयो।

हिन्दी अनुवाद :- लम्बे काल तक सोचने पर भी पुण्यहीन, मेरा दुर्दैव के ही विलास से चित्रवेग से समागम नहीं हुआ।

गाहा :-

अच्छउ संगम-सोक्खं दंसण-आसावि दुल्लहा जावा।

जाए तस्स विओगे फुट्टंत धारियं हिययं।।१५१।।

संस्कृत छाया :-

आस्तां सङ्गमसौख्यं दर्शनाशापि दुर्लभा जाता।

जाते तस्य वियोगे भ्रंशमानं धृतं हृदयम्।।१५१।।

गुजराती अर्थ :- तेना सङ्गमनु सुख तो दूर रहो, पण दर्शननी आशा पण दुर्लभ थई छे। अने तेनो वियोग थये छते फुटि जता हृदयने में हजी सुधी धारण करी राख्यु छे।

हिन्दी अनुवाद :- उन के सङ्गम का सुख तो दूर रहो किन्तु दर्शन की आशा भी दुर्लभ है और उनके वियोग से त्रुटित हृदय को मैंने अब तक धारण- करके रखा है।

गाहा :-

ता का अज्जवि आसा जेण तुमं हियय! फुट्टसि न झत्ति।

खण-मित्त-दिट्ठ-वल्लह-विओय-वज्जेण दलियंपि?।।१५२।।

संस्कृत छाया :-

तस्मात् का अद्यापि आशा येन त्वं हे हृदय! स्फुटसि न झटिति।

क्षणमात्र-दृष्ट-वल्लभ-वियोग-वज्जेण दलितमपि?।।१५२।।

गुजराती अर्थ :- तेथी हजी पण तने शुं आशा छे? जे कारणथी क्षणमात्र जोयेला-प्रियना वियोगरूप वज्जथी भेदायेलु पण हे हृदय! तूं हजी पण जल्दी थी केम भेदातुं नथी?

हिन्दी अनुवाद :- अतः अभी भी क्या तुझे आशा है? जिस से क्षणमात्र दृष्टिपात किए प्रिय के वियोगरूप वज्र से भेदित होने पर भी हे हृदय! तूं क्यों जल्दी से नष्ट नहीं होता है?

गाहा :-

न य पिउ-वयणं सोउं इच्छिय-जण-विरह-कारयं हिययं।

वज्ज-घडियं व मन्ने जं नवि सय-सिक्करं जासि ॥१५३॥

संस्कृत छाया :-

न च पितृवचनं श्रुत्वा इच्छित-जन-विरह-कारकं हृदयम्।

वज्रघटितमिव मन्ये यत्रापि शत-शर्करं यासि ॥१५३॥

गुजराती अर्थ :- इच्छित जननो विरह करवावनार पिताना वचनने सांभलीने हे हृदय! तारा केम अत्यारे पण 'सो टूकडा थता नथी, तेथी हुं मानु छु के तुं वज्रथी घडायेलो छे।

हिन्दी अनुवाद :- वाञ्छित जन का विरहयुक्त पिताजी के वचन सुनकर भी हे हृदय! तेरे अभी क्यों "सौ टुकड़े" नहीं होते हैं, अतः मुझे लगता है तू वज्र से बना है।

गाहा :-

अम्माए तायस्सवि वल्लहिया हं तिइय मरट्टो जो ।

हिययम्मि आसि मज्झं सोवि हु इण्हं पलीणोत्ति ॥१५४॥

सुह-सज्झं चिय एयं कज्जं मा पुत्ति! कुण विसायंति ।

एवंविह-वयणेहिं पयारिया जेण अंबाए ॥१५५॥

संस्कृत छाया :-

अम्बायाः तातस्यापि वल्लभाऽहं इति एष मरट्टो यः ।

हृदये आसीद् मम सोऽपि खलु इदानीं प्रलीन इति ॥१५४॥

सुखसाध्यं एव एतत् कार्यं मा पुत्रि! कुरु विषादमिति ।

एवं-विध-वचनैः प्रतारिता येन अम्बाया ॥१५५॥

गुजराती अर्थ :- माता-पिताने पण हुं प्रिय छुं ए प्रमाणे हृदयमां जे गर्व हतो ते पण अत्यारे नाशा पामी गयो छे।

अने हे पुत्रि! आ कार्यं सुख साध्य छे तेथी तुं दुःखने धारण न कर इत्यादि वचनो वडे माताए जेथी मने छेतरी।

हिन्दी अनुवाद :- माता-पिता को मैं प्रिय हूँ ऐसा भी मुझे जो गर्व था अब वह भी चला गया है!

हे पुत्री! यह कार्य तो सुख-साध्य है, अतः तू दुःखी न हो इत्यादि वचन द्वारा माता ने भी मुझे धोखा दिया।

गाहा :-

जस्सुवरि तुज्झ इच्छा दायव्वा तस्स तं मए पुत्ति! ।

इय निय-वयणं ताएण संपयं अन्नहा विहियं ॥१५६॥

संस्कृत छाया :-

यस्योपरि तवेच्छा दातव्या तस्मै त्वं मया हे पुत्रि!।

इति निज-वचनं तातेन साम्प्रतं अन्यथा विहितम् ॥१५६॥

गुजराती अर्थ :- हे पुत्री! जेना उपर तारो राग ह्यो तेने ज आपीष्टा ए प्रमाणे पिता वडे जे कहेवायु ते पण अत्यारे अन्यथा करायु।

हिन्दी अनुवाद :- हे पुत्री! जिसके ऊपर तेरा राग होगा उसी को मैं दूंगा इस प्रकार पिताजी द्वारा जो कहा गया था वह भी फिलहाल अन्यथा हुआ।

गाहा :-

विन्नाय-मह-सरूवो ओ अन्नहा जइ करेइ ताओवि।

मद् वंछिय-सम्प्राप्त्याः संभवस्ततः ता कहं होउ? ॥१५७॥

संस्कृत छाया :-

विज्ञात-मत्स्वरूप ओ! अन्यथा यदि करोति तातोऽपि।

मद्वांछित-सम्प्राप्त्याः संभवस्ततः कथं भवेत्? ॥१५७॥

गुजराती अर्थ :- मारो स्वरूप ने जाणेला पिता पण जो अत्यारे अन्यथा करे छे तो पछी मारो मनोवांछित मिलनो संभव केवी रीते थाय?

हिन्दी अनुवाद :- मेरे स्वरूप से अवगत पिताजी भी फिलहाल अन्यथा करते हैं तो फिर मेरा मनोवांछित मिलन का संभव कैसे होगा?

गाहा :-

एवं वियाणिऊणवि हियय! तुमं कास मुंचसि न आसं।

तज्जण-संगम-विसयं जेणज्जवि जीवियं धरसि? ॥१५८॥

संस्कृत छाया :-

एवं विज्ञायापि हे हृदय! त्वं कस्माद् मुञ्चसि नाशाम्।

तज्जन-सङ्गम-विषयं येनाद्यापि जीवितं धत्से? ॥१५८॥

गुजराती अर्थ :- हे हृदय! आ प्रमाणे तूं जाणे छे, छतां पण आशाने केम छोडतुं नथी? हजु पण इष्टजनना समागममां उत्कंठित थयेलानी जेम जीवित धारण करे छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे हृदय! इस प्रकार तूं जानने पर भी आशा को क्यूं नहीं छोड़ता है? अभी भी इष्टजन के समागम में उत्कंठित हुए की तरह तूं जीवन को धारण करता है।

गाहा :-

अहवा न कोवि दोसो पहु-परवस-चिद्वियस्स तायस्स।

सुम्मइ जणम्मि पयडं कट्ठो खलु भिच्च-भावोत्ति ॥१५९॥

संस्कृत छाया :-

अथवा न कोऽपि दोषः प्रभुपरवश-स्थितस्य तातस्य ।

श्रूयते जने प्रकटं कष्टः खलु भृत्यभाव इति ॥१५९॥

गुजराती अर्थ :- अथवा स्वामी ने परवश थयेला पितानो कोइ पण दोष नथी। लोकमां पण संभलाय छे के, सेवकभाव खरेखर दुःखदायक होय छे।

हिन्दी अनुवाद :- अथवा स्वामी से अधीन पिताजी का कुछ भी दोष नहीं है, लोक में भी सुनाई देता है कि सेवक भाव निश्चय ही दुःखदायक है।

गाहा :-

जइवि हु विजियाणंगो रूवेणं जइवि संपया-कलिओ ।

जइवि हु उत्तम-वंसो सक्खा सक्कंदणो जइवि ॥१६०॥

तहवि न भावइ अत्रो पुरिसो तं हियय-वल्लहं मोचुं ।

जइ एस निच्छओ हियय! तुज्ज ता किं विलंबेण? ॥१६१॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

यद्यपि खलु विजितानङ्गे रूपेण यद्यपि संपत्-कलितः ।

यद्यपि खलु उत्तमवंशः साक्षाद् यद्यपि ॥१६०॥

तथापि न रोचते अन्यः पुरुषः तं हृदयवल्लभं मुक्त्वा ।

यदि एष निश्चयो हे हृदय! तव तस्मात् किं विलम्बेण? ॥१६१॥ युग्मम् ॥

गुजराती अर्थ :- जो के रूप वडे कामदेवने जीतनाट होय, सर्व सम्पत्तिथी-सम्पूर्ण होय, जो के उत्तमवंशामां उत्पन्न थयेलो होय, के साक्षात् इन्द्रतुल्य होय तो पण ते हृदयवल्लभने छोडीने अन्य पुरुष तरफ दृष्टि पण नहीं करू हे हृदय! जो तारो आ ज निश्चय छे तो शा माटे विलम्ब करे छे?

हिन्दी अनुवाद :- यदि रूप से कामदेव को जीतनेवाला हो, या सर्वसम्पत्ति से पूर्ण हो, अथवा उत्तमवंश में उत्पन्न हुआ हो, या तो साक्षाद् इन्द्र तुल्य हो तो भी मैं तो हृदयवल्लभ को छोड़कर अन्य पुरुष की ओर दृष्टि भी नहीं करूंगी। हे हृदय! तेरा यह निश्चय है तो किसलिए विलम्ब करता है?

गाहा :-

एसो सो पत्थावो अइदुलहो पाविओत्ति कलिऊणं ।

उज्जमविचिंतियत्थे होउ अविग्घेण संपत्ती ॥१६२॥

संस्कृत छाया :-

एष स प्रस्तावोतिदुर्लभः प्राप्त इति कलित्वा ।

उद्यमविचितार्थं भवतु अविघ्नेन सम्प्राप्तिः ॥१६२॥

गुजराती अर्थ :- अतिदुर्लभ एवो आ प्रसंग प्राप्त थयो छे एम जाणीने हे हृदय! प्रयत्नपूर्वक विचारेल कार्यमां निर्विघ्न पणे इष्ट प्राप्ति थशो।
हिन्दी अनुवाद :- अतिदुर्लभ ऐसा यह प्रसंग प्राप्त हुआ है ऐसा जानकर हे हृदय! प्रयत्नपूर्वक चिंतित कार्य मे विघ्न रहित इष्ट की प्राप्ति होगी।

गाहा :-

एवं हि कए तायस्स देइ दोसं न किंपि रायावि।

दूसह-वियोय-दुक्खस्स होइ एवं च वोच्छेओ।।१६३।।

संस्कृत छाया :-

एवं हि कृते तातस्य ददाति दोषं न किमपि राजापि।

दुस्सह-वियोग-दुःखस्य भवति एवं च व्युच्छेदः।।१६३।।

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे करे छते गन्धवाहन राजा पण पिताने कांई दोष नही आपे। अने दुःसह एवा मारा वियोग रूपी दुःखनो पण नाशा थशो!”

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार करने से गन्धवाहन राजा भी पिता को कुछ दोष नहीं देगा और दुःसह वियोग रूप दुःख का भी नाश होगा”।

गाहा :-

मरण साहस

एमाइ-बहु-विगप्पा भणिऊणं चित्तवेग! सा बाला।

कय-मरणज्झवसाया आरूढा अह तमालम्मि।।१६४।।

संस्कृत छाया :-

एवमादि-बहुविकल्पान् भणित्वा हे चित्रवेग! सा बाला।

कृत मरणाध्यवसाया आरूढा अथ तमाले।।१६४।।

गुजराती अर्थ :- “हे चित्रवेग! इत्यादि बहुविकल्पो कहिने हवे ते बाला (कनकमाला) करेला मरणना अध्यवसायवाली ते तमाल वृक्षपर आरूढ थई!

हिन्दी अनुवाद :- हे चित्रवेग! इत्यादि कहकर अब वह बाला अपघात (आत्महत्या) करने के लिए तमाल वृक्ष पर आरूढ़ हुई।

गाहा :-

दडूण साहसं तीइ नवरि देहं पकंपियं मज्झं।

न वहइ वाया कहवि हु थक्काओ सव्व-संधीओ।।१६५।।

संस्कृत छाया :-

दृष्ट्वा साहसं तस्या नवरं देहं प्रकम्पितं मम।

न वहति वाया कथमपि खलु स्थिताः सर्व-सन्धयः।।१६५।।

गुजराती अर्थ :- तेणीनु आ साहस जोईने मारो देह एकदम थीजी गयो, मारी वाचा (जीभ) अटकी गई अने शरीर ना सर्व सांधा पण स्थिर थई गया।

हिन्दी अनुवाद :- कनकमाला का यह साहस देखकर मेरा देह सहसा स्तंभित हो गया, मेरी जिह्वा भी स्थिर हो गई, और शरीर के सभी संधिभाग भी स्थिर हो गये।

गाहा :-

तत्तो य कणगमाला आरुहिऊणं तमाल-साहाए ।

बंधिय निउत्तरीय बंधइ निय-कंधराभोगे ॥१६६॥

संस्कृत छाया :-

ततः च कनकमाला आरूह्य तमालशाखायाम् (शाखां) ।

बद्ध्वा निजोत्तरीयं बध्नाति निज कन्धराभोगे ॥१६६॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी कनकमालाए तमालवृक्ष ऊपर आरूढ थईने पोताना उत्तरीय-वस्त्रने शाखा साथे बांधीने पोताना गळामा बांध्यु।
हिन्दी अनुवाद :- और कनकमाला तमालवृक्ष पर चढ़कर अपने उत्तरीय वस्त्र को शाखा के साथ बांधकर अपने गले में बांधा।

गाहा :-

अह पभणिउं पयत्ता अम्मे! जं किंचि बाल-भावाओ ।

पभिइं किलेसिया तं तं खमियव्वं महं सव्वं ॥१६७॥

संस्कृत छाया :-

अथ प्रभणितुं प्रयता हे अम्ब! यत्किंचिद् बालभावात् ।

प्रभृतिं क्लेशिता तत्तत् क्षंतव्यं मम सर्वम् ॥१६७॥

गुजराती अर्थ :- त्यार पछी प्रयत्न पूर्वक ते बोलवा लागी। हे माता! बालभावथी मांडीने जे काई पण मारो अपराध थयो होय ते सर्वनी मने क्षमा आपजे।

हिन्दी अनुवाद :- फिर प्रयत्नपूर्वक बोलने लगी हे माता! बाल्यकाल से आजतक मैंने जो कुछ भी अपराध किया हो उन सभी के लिए मुझे क्षमा करना।

गाहा :-

ताय! तुमंपि हु मह खमसु संपयं पणय-परवसाइ मए।

पुव्विं किलेसिओ जं पर-लोयं पत्थिया अहयं ॥१६८॥

संस्कृत छाया :-

हे तात! त्वमपि खलु मम क्षमस्व साम्प्रतं प्रणयपरवशया मया ।

पूर्वं क्लेशितो यत् परलोकं प्रस्थिताऽहम् ॥१६८॥

गुजराती अर्थ :- हे पिता! पहिला प्रणयपरवशा मारा वडे आपनो जे कोई अपराध थयो होय ते सर्वनी मने क्षमा आपजो, हुं हवे परलोक तरफ प्रयाण करू छु!

हिन्दी अनुवाद :- हे पिता! पहले प्रणयवश मेरे द्वारा आप का जो कुछ भी अपराध-किया गया हो उन सभी के लिए मुझे क्षमा करना, फिलहाल मैं परलोक की ओर प्रयाण करती हूँ।

गाहा :-

जणणी-समहिय-नेहे! सोमलए! खम किलेसिया जं सि ।

सुसिणिद्ध-सही-संदोह! खमसु जं किंचि अवरद्धं ॥१६९॥

संस्कृत छाया :-

जननी-समधिक-स्नेहे! सोमलते! क्षमस्व क्लेशिता यदसि ।

सुस्निग्ध-सखी-संदोह! क्षमस्व यत्किञ्चिदपराद्धम् ॥१६९॥

गुजराती अर्थ :- माता समान अधिक स्नेहाळ सोमलते! तुं पण मारा अपराधोनी क्षमा आपजे, उत्तमस्नेहने धारण करती हे! सखीओ! तमे बधा पण मारी क्षतिनी क्षमा करजो!

हिन्दी अनुवाद :- माता तुल्य, अधिक स्नेहवती! सोमलते! तूँ भी मेरे अपराधों की क्षमा करना, स्निग्धस्नेहवाली सखियाँ! तुम भी मुझे क्षमा करना।

गाहा :-

खण-मित्त-दिट्टु! वल्लह! हिययब्भंतर-पविट्टु निसुणेसु ।

पत्थेमि किंचि सामिय! पाण-च्चायं करेमाणी ॥१७०॥

संस्कृत छाया :-

क्षणमात्रदृष्ट! हे वल्लभ! हृदयाभ्यन्तर प्रविष्ट! निश्रुणु! ।

प्रार्थयामि किंचिद् हे स्वामिन्! प्राणत्यागं कुर्वन्ती ॥१७०॥

गुजराती अर्थ :- एक क्षणमात्र जोयेला छता हृदयनी अंदर प्रवेशेला हे वल्लभ! हे स्वामिन् । प्राण त्याग करती एवी हुं प्रार्थना करूँ छुं ते तमे सांभळो।

हिन्दी अनुवाद :- क्षणिकमात्र देखने पर भी हृदय में प्रविष्ट हे वल्लभ! हे स्वामिन्! प्राण-त्याग करते हुए मेरी प्रार्थना को आप सुनिए!

गाहा :-

तुह संगम-रहियाए एसो जम्मो हु ताव वोलीणो ।

अन्न-भवे पुण सामिय। तं चिय मह वल्लहो हुज्जा ॥१७१॥

संस्कृत छाया :-

तव सङ्गम-रहिताया एतद् जन्म खलु तावद् व्यतीतम् ।

अन्यभवे पुनः हे स्वामिन् त्वमेव मम वल्लभो भवतु ॥१७१॥

गुजराती अर्थ :- आपना सङ्गमथी रहित माटो आ जन्म तो पूर्ण थई गयो छे। परंतु अन्यभवमां तो तमे ज माटा प्रियतम थजो।

हिन्दी अनुवाद :- आप का समागम नहीं होने से मेरा यह भव तो पूर्ण हो गया है किन्तु अन्यभव में आप ही मेरे प्रियतम होना।

गाहा :-

अन्नं भणामि सामिय! जइवि हु अइनिदुरं इमं वयणं ।

तहवि हु तुह आवया-वारणत्थमेसो म्ह निब्बंधो ॥१७२॥

संस्कृत छाया :-

अन्यद् भणामि हे स्वामिन्! यद्यपि खलु अतिनिष्ठुरं इदं वचनम्।

तथापि खलु तवापद्-वारणार्थं एष मम निर्बन्धः ॥१७२॥

गुजराती अर्थ :- हजी पण हे स्वामिन्! बीजा पण अति निष्ठुर वचन कहुं छु तो पण आपनी आपदाने वारवा माटे आ माटो आवग्रह छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे स्वामिन्! और भी अतिनिष्ठुर वचन कहती हूँ फिर भी आपकी आपत्ति वारण के लिए यह मेरा आग्रह है।

गाहा :-

नीसर मह हिययाओ रुद्धे कंठम्मि पासएणहवा ।

सक्केसि न नीसरिउं सामिय! मह पाण-वल्लहय! ॥१७३॥

संस्कृत छाया :-

निस्सर मम हृदयाद् रुद्धे कण्ठे, पाशकेन अथवा।

शक्नोषि न निस्सरितुं हे स्वामिन्! मम प्राणवल्लभ! ॥१७३॥

गुजराती अर्थ :- हे! माटा प्राणप्रिय स्वामिन्! माटा हृदयमांथी जल्दी नीकली जाओ कारण के पाशावड़े कण्ठ रूंधाये छते निकलवा माटे शक्य नथी!

हिन्दी अनुवाद :- हे प्राणप्रिय स्वामिन्! मेरे हृदय से जल्दी निकल जाएं, क्यों कि पाश द्वारा कंठ अवरुद्ध होने पर निकलना सम्भव नहीं है।

गाहा :-

मन्ने न किंचि लब्धं हय-विहिणा मरण-कारणं अन्नं ।

मह तेण कारणेणं तुमए सह दंसणं विहियं ॥१७४॥

संस्कृत छाया :-

मन्ये न किंचिद् लब्धं हतविधिना मरणकारणमन्यत् ।

मम तेन कारणेन त्वया सह दर्शनं विहितम् ॥१७४॥

गुजराती अर्थ :- हुं मानु छुं के दुष्ट भाग्यवड़े मारा मरण माटे बीजू कोई कारण प्राप्त न करावु, जेथी तारी साथे मारू दर्शन करावावु।

हिन्दी अनुवाद :- मैं मानती हूँ कि दुर्भाग्य द्वारा मेरे मरण के लिए अतिरिक्त कोई भी कारण प्राप्त नहीं किया गया, जिससे आपका दर्शन मुझे कराया।

गाहा :-

वण-देवयाओ! निसुणह तुम्ह पसायाओ अब्र-जम्मेवि ।

सो खण-दिट्ठो लोगो दइओ मह होज्ज, नन्नोत्ति ॥१७५॥

संस्कृत छाया :-

हे वनदेवता! निःशृणुत युष्माकं प्रसादादन्य-जन्मन्यपि ।

स क्षण-दृष्टो लोको दयितो मम भवतु नान्य इति ॥१७५॥

गुजराती अर्थ :- हे वनदेवता! सांभलो! आपनी कृपाथी बीजा जन्ममां पण ते क्षण मात्र जीवायेलो पुरुष मारो पति थाय, बीजा कोई नहीं।

हिन्दी अनुवाद :- हे वनदेवता! सुनिए! आपकी कृपा से अन्य जन्म में भी उस क्षण में दृष्टिपात हुआ पुरुष ही मेरा पति बने अन्य कोई नहीं।

गाहा :-

आकाश वाणी

एवं भणितं तीए मुक्को अप्पा अहोमुहो ज्जत्ति ।

एत्थंतरम्मि गवणे समुट्ठिया एरिसा वाया ॥१७६॥

संस्कृत छाया :-

एवं भणित्वा तया मुक्त आत्मा अधोमुखो ज्जटिति ।

अत्रान्तरे गगने समुत्थिता ईदृशी वाग् ॥१७६॥

गुजराती अर्थ :- ए प्रमाणे कहीने तेना वड़े जल्दी थी पोतानो देह अधोमुख करावो ते समये ज आ प्रमाणे आकाशवाणी थई!

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार बोलकर उसने जल्दी से अपने देह को अधोमुख किया, उसी समय इस प्रकार आकाशवाणी हुई।

गाहा :-

मा मा साहसमेयं आयर भदे! समुच्छुगा होउं ।

सो चेव तुज्झ भत्ता होही नणु चित्तवेगोत्ति ॥१७७॥

संस्कृत छाया :-

मा मा साहसं एतदाचर हे भद्रे! समुत्सुका भूत्वा।

स चैव ते भर्ता भविष्यति ननु 'चित्रवेग' इति ॥१७७॥

गुजराती अर्थ :- हे भद्रे!तु उत्सुक थई ने आवु साहस ना कर! ना कर!
ते चित्रवेग ज तारो पति थशे!

हिन्दी अनुवाद :- हे भद्रे! तूं उत्सुकता से ऐसा साहस मत कर! मत कर! वह
चित्रवेग ही तेरा पति होगा।

गाहा :-

तत्थेव लग्न-दिवसे पाणिग्रहणं भविस्सई तेणं।

अह सुंदरि! एत्थत्थे मा किंचिवि कुण विसायंति ॥१७८॥ युग्मम् ॥

संस्कृत छाया :-

तत्रैव लग्नदिवसे पाणिग्रहणं भविष्यति तेन।

अथ हे सुन्दरि! अत्रार्थं मा किञ्चिदपि कुरु विषादमिति ॥१७८॥ युग्मम्

गुजराती अर्थ :- तेज लग्नदिवसे तेनी साथे तारु प्राणिग्रहण थशे
आथी हे सुन्दरि! आ विषयमां तुं जरा पण दुःखी ना था।

हिन्दी अनुवाद :- वही लग्नमुहूर्त में तेरा उनके साथ पाणिग्रहण होगा, अतः हे
सुन्दरी! इस विषय में तूं तनिक भी दुःखी न हो।

गाहा :-

पाश बंधन मुक्त

वयणाणंतरमेव हि तुट्टो से पासओ, तओ अहयं।

तव्वयण-गलिय-सज्झस-सत्थ-सरीरा गया पासे ॥१७९॥

संस्कृत छाया :-

वचनान्तरं एव हि त्रुटितस्तस्याः पाशकस्ततोऽहम्।

तद्-वचन-गलित-साध्वस-स्वस्थ-शरीरा गता पार्श्वे ॥१७९॥

गुजराती अर्थ :- आकाशवाणी थया बाद तरत ज तेणीनो पाश तूटी
गयो अने ते दिव्य वचन थी भयमुक्त अने स्वस्थ शरीरवाली थयेली हुं
तेनी पासे जई शकी।

हिन्दी अनुवाद :- आकाशवाणी के पश्चात् तुरंत ही पाश टूट गया, और उस
दिव्यवचन से भयमुक्त और स्वस्थ हुई मैं उनके पास गई।

गाहा :-

तत्तो सलज्ज-वयणा भणिया य माए न पुत्ति! तुह जुत्तं।

एरिसमायरिउं जणणि-जणगमाईण-दुह-जणयं ॥१८०॥

संस्कृत छाया :-

ततः सलज्ज-वदना भणिता च मया न हे पुत्रि! तव युक्तम्।

ईदृशमाचरितुं जननी-जनकादीनां दुःखजनकम् ॥१८०॥

गुजराती अर्थ :- (मने जोई) ते लज्जायुक्त मुखवाळी थई अने मे कनकमालाने कहयु के हे पुत्री! माता-पिताने दुःखजनक आवाप्रकारणुं आचरण तने योग्य नथी।

हिन्दी अनुवाद :- (मुझे देखकर) कनकमाला लज्जित हो गई तथा मैंने उससे कहा, हे पुत्री! माता-पिता को दुःख पहुंचानेवाला ऐसा कार्य करना तुझे योग्य नहीं है।

गाथा :-

ततो य तीड भणियं अम्बे! अम्हारिसाण किं अन्नं ।

एवं हि गए काउं जुत्तं मरणं पमोत्तूण? ॥१८१॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च तया भणितं हे अम्ब! अस्मादृशानां किमन्यत् ।

एवं हि गते कर्तुं युक्तं मरणं प्रमुच्य? ॥१८१॥

गुजराती अर्थ :- व्याचरणी तेणे कह्यु, हे माता! आवु असाह्य दुःख आवे व्यारे अमारु जेताने मरण सिवाय बीजो उपाय शुं होई शके?

हिन्दी अनुवाद :- अतः उसने कहा, हे माता! ऐसा असह्य दुःख आने पर मेरे लिए मरण के अलावा कौन सा उपाय हो सकता है?

गाथा :-

जओ

वरि मरणं मा विरहो विरहो अइदूसहोऽम्ह पडिहाइ ।

वरि एक्कं चिय मरणं जेण समप्यंति दुक्खाइं ॥१८२॥

संस्कृत छाया :-

यतः

वरं मरणं मा विरहो, विरहो-अतिदुस्सहोस्माकं प्रतिभाति।

वरमेकं चैव मरणं येन समाप्यन्ते दुःखानि ॥१८२॥

गुजराती अर्थ :- प्रियतमनो विरह सहवो अति दुःसह लागे छे 'मरण श्रेष्ठ छे विरह नहीं', कारण के एक मरणवडे ज बधा दुःखोनो अंत आवी जाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- प्रियतम के विरह को सहना अति दुःसह है। उससे तो मरण ही श्रेष्ठ है विरह-नहीं, क्योंकि एक मृत्यु द्वारा ही सभी दुःखों का अंत हो जाता है।

गाथा :-

ततो य मए तीसे कहिओ सब्बोवि पुव्व-वुत्तंतो ।

भणिया य पुत्ति! संपइ किं तुह पडिहासए काउं? ॥१८३॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया तस्यै कथितः सर्वोऽपि पूर्ववृत्तान्तः।

भणिता च हे पुत्री! सम्प्रति किं तव प्रतिभासते कर्तुम्?।।१८३।।

गुजराती अर्थ :- अने व्यारपछी मे तेने बधो ज वृत्तान्त कहयो अने कहयुं - हे पुत्री! अत्यारे तने करवा जेवु थुं उचित लागे छे?

हिन्दी अनुवाद :- बाद में मैंने भी सभी वृत्तान्त उसको सुनाया, और पूछा हे पुत्री! फिलहाल तुझे क्या करना उचित लगता है?

गाहा :-

सोमलता ने कहेवु

अह तीए वज्जरियं लज्जं मोत्तुं भणामि एयं तु।

नवि मज्झ करे लग्गइ अन्नो पुरिसो इहं जम्मे।।१८४।।

संस्कृत छाया :-

अथ तया व्याहृतं लज्जां मुक्त्वा भणामि एतत्तु।

नापि मम करे लगति अन्यः पुरुष इह जन्मनि।१८४।।

गुजराती अर्थ :- तेणीए पण लज्जा मूकीने जे कह्यु, ते कह्यु छुं 'आ जन्ममां मारा हाथ ऊपर कोई पण अन्य पुरुषनो हाथ नहीं लागे।'

हिन्दी अनुवाद :- तब कनकमाला ने भी लज्जा छोड़कर जो कहा, वह मैं कहती हूँ, 'इस जन्म में मेरे हाथ पर अन्य किसी पुरुष का हाथ नहीं होगा।'

गाहा :-

हसिऊण मए भणियं देवय-वयणाउ सिद्धमेयंति।

किंतु कह तुज्झ जणओ छुट्टिस्सइ गंधवाहणओ?।।१८५।।

संस्कृत छाया :-

हसित्वा मया भणितं देवता-वचनात् सिद्ध-मेतदिति।

किन्तु कथं तव जनकः छुटिष्यति गन्धवाहनात्?।।१८५।।

गुजराती अर्थ :- तयारे मे हसीने कहयु, देवताना वचनथी तारो मनोरथ सिद्ध ज छे परंतु तारा पिता गन्धवाहनथी केवी रीते छुटथो?

हिन्दी अनुवाद :- तब मैंने हंसकर कहा, देवता के वचन से तेरा मनोरथ सफल ही है किन्तु गन्धवाहन से तेरे पिता की मुक्ति कैसे होगी?

गाहा :-

एत्यंतरम्मि पुणरवि गयणे वाया समुट्टिया एसा।

मा! कुणह बहु-विगप्पे मह वयणं ताव निसुणेह।।१८६।।

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे पुनरपि गगने वाक् समुत्थिता एषा ।

मा कुरु बहुविकल्पान् मम वचनं तावन्निःशृणु ॥१८६॥

गुजराती अर्थ :- एटलीवाट मां फटी पण आकाशवाणी थई “अहीं घणा विकल्पोने करो नही पण मारा वचन सांभळो?”

हिन्दी अनुवाद :- इतनी देर में पुनः आकाशवाणी हुई “यहाँ बहुत विकल्प मत करो मैं जो कह रहा हूँ, सुनो!”

गाहा :-

गंतूणं सोमलया साहउ जणयस्स एरिसं वयणं।

भणिया बहु-प्पगारं भणइ तओ कणगमालेवं ॥१८७॥

संस्कृत छाया :-

गत्वा सोमलता कथयतु जनकार्यैतादृशं वचनम् ।

भणिता बहुप्रकारं भणति ततः कनकमाला एवम् ॥१८७॥

गुजराती अर्थ :- सोमलता! तूं अहींथी जईने तेना पिताने आ प्रमाणे कहे. घणा प्रकारे समजावायेली कनकमालाए पछी आ प्रमाणे कहे छे।

हिन्दी अनुवाद :- सोमलता! तूं यहाँ से जाकर उनके पिताजी को इस प्रकार समाचार दे कि बहुत समजाने के बाद कनकमाला इस प्रकार कह रही है।

गाहा :-

पितानी वात मान्य

जं चेव कुणइ ताओ तं चेव मञ्झ बहु-मयं सव्वं।

जह होइ सुंदरं इह तायस्सवि कीरइ तयंति ॥१८८॥

संस्कृत छाया :-

यश्चैवं करोति तातः तं चैव मम बहुमतं सर्वम् ।

यथा भवति सुन्दरं इह तातस्यापि क्रियते तदिति ॥१८८॥

गुजराती अर्थ :- पिताजी जे करशे ते सर्व मने मान्य छे जे करवाथी पिताजीनुं सुन्दर थाय तेम करवु।

हिन्दी अनुवाद :- पिताजी जो भी करेंगे वो मुझे मान्य है। पिताजी को जो अच्छा लगे वैसा करें।

गाहा :-

ततो अविगप्यं से वरणमाइं पडिच्छियव्वंति ।

एवं हि कए कमसो होही इडुत्थ-संपत्ती ॥१८९॥

संस्कृत छाया :-

ततोऽविकल्पं तस्या वरणादि प्रत्येष्टव्यमिति ।

एवं खलु कृते क्रमशो भविष्यति इष्टार्थ-सम्प्राप्तिः ॥१८९॥

गुजराती अर्थ :- आथी आप निःशंक थईने तेणीना लग्नादि कार्य नो स्वीकार करो। आ प्रमाणे कराये छते अनुक्रमे इष्ट अर्थनी प्राप्ति थशे।

हिन्दी अनुवाद :- आप निःशंक होकर लग्नादि कार्य स्वीकार करो, इस प्रकार होने से इष्ट फल की प्राप्ति भी होगी।

गाहा :-

इय देवयाए वयणं सोऊणं चित्तवेग! अम्हाणं ।

संजातो गुरु-तोसो ततो य मए इमं भणियं ॥१९०॥

संस्कृत छाया :-

इति देवताया वचनं श्रुत्वा हे चित्रवेग! अस्माकम् ।

सज्जातो गुरुतोषः ततश्च मया इदं भणितम् ॥१९०॥

गुजराती अर्थ :- हे चित्रवेग! आ प्रमाणे देवताना वचन सांभळीने अमने घणो ज संतोष थयो। अने पछी में कह्यु -

हिन्दी अनुवाद :- हे चित्रवेग! इस प्रकार देवता की वाणी सुनकर हमें भारी संतोष हुआ और मैंने कहा -

गाहा :-

मण-वंछिय-वत्थुम्मी मा कीरउ पुत्ति! कावि आसंका ।

कवडेणवि तेण तुमं मन्नसु निय-जणय-वयणंति ॥१९१॥

संस्कृत छाया :-

मनोवाञ्छित-वस्तुनि मा क्रियतां हे पुत्रि! कापि आशङ्का ।

कपटेनापि तेन त्वं मन्यस्व निजजनकवचनमिति ॥१९१॥

गुजराती अर्थ :- हे पुत्री! मनोवाञ्छित वस्तुमां कोई पण शंका करवी नही, कपटथी पण तुं पोताना पिताना वचननो स्वीकार कर।

हिन्दी अनुवाद :- हे पुत्रि! मनोवाञ्छित वस्तु में कोई भी शंका मत करना, कपट से भी तू पिताजी का वचन स्वीकार ले।

गाहा :-

एवं च देवयाए वयणं अन्नस्स नेव कहियव्वं ।

मा विन्नाय-सरूवो विरूवमायरइ सो राया ॥१९२॥

संस्कृत छाया :-

एवं च देवताया वचनमन्यस्मै नैव कथितव्यम् ।

मा विज्ञातस्वरूपो विरूपमाचरति स राजा ॥१९२॥

गुजराती अर्थ :- अने देवतांना वचन बीजा कोईने कहेवा नही कारण के जाणेला स्वरूपवालो राजा कांई पण विरूप आचरण कदाच करे।

हिन्दी अनुवाद :- अतः देवता के वचन किसी को भी कहना नहीं, क्योंकि इस स्वरूप को जान कर राजा कुछ भी अनिष्ट कर सकते हैं।

गाहा :-

एयम्मि कए पयडे लोय-पवायाउ नाय-परमत्थो।

रायाऽवस्सं तुह वल्लहस्स आयरइ असुहंति ॥१९३॥

संस्कृत छाया :-

एतस्मिन् कृते प्रकटे लोकापवादाद् ज्ञातपरमार्थः ।

राजा अवश्यं तव वल्लभस्य आचरति अशुभमिति ॥१९३॥

गुजराती अर्थ :- जो आ वात प्रकट थाय तो लोकनिन्दा थी जाणेला-परमार्थवाला राजा अवश्य तारा प्रियनुं अशुभ आचरण करे!

हिन्दी अनुवाद :- यदि यह बात प्रगट हो जाय तो लोकनिन्दा से रहस्य पाकर राजा तेरे प्रिय-का अशुभ कर सकता है।

गाहा :-

चित्रमाला ने संदेशो आपवो

तो भणइ कणगमाला एवं एयंति नत्थि संदेहो।

ता अम्बे! पत्थुयत्थे उज्जम किं एत्थ बहुएण? ॥१९४॥

संस्कृत छाया :-

ततो भणति कनकमाला एवमेतदिति नास्ति संदेहः।

तस्माद् हे अम्ब! प्रस्तुतार्थे उद्यच्छ किमत्र बहुकेन? ॥१९४॥

गुजराती अर्थ :- आथी कनकमाला कहे छे 'आ प्रमाणे ज थथो एमां कोई चंदेह नथी। तेथी हे माता! प्रस्तुत प्रसंग मां उद्यम करो अहीं बहु कहेवा वडे शर्यु?'

हिन्दी अनुवाद :- अब कनकमाला कहती है, इसी प्रकार होगा इसमें आप तनिक भी सन्देह मत करो। हे माता! अभी करने योग्य कर्तव्य कीजिए यहाँ इतना कहना पर्याप्त है।

गाहा :-

ततो य मए गंतुं सिद्धं एयं तु चित्तमालाए ।

भणिया बहु-प्पगारं तुह धूया भणइ एवं तु ॥१९५॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च मया गत्वा शिष्टं एतत्तु चित्रमालायै ।

भणिता बहुप्रकारं तव दुहिता भणन्ति एवं तु ॥१९५॥

गुजराती अर्थ :- न्याचपछी में जईने चित्रमाला ने कह्यु के, तारी पुत्रीने घणा प्रकारे कहेवाये छते तेणे आ प्रमाणे कहयु छे।

हिन्दी अनुवाद :- बाद में मैंने जाकर चित्रमाला से कहा, बहुत समझाने पर आपकी पुत्री ने इस प्रकार कहा है।

गाहा :-

जं किंचि भणइ ताओ जं चिय इह बहु-मयं तु अम्बाए ।

जं चेव य सगुणतरं मएवि तं चेव कायव्वं ॥१९६॥

संस्कृत छाया :-

यत् किंचिद् भणति तातो यदेवेह बहुमतं तु अम्बया ।

यदेवं च सगुणतरं मया अपि तदेव कर्तव्यम् ॥१९६॥

गुजराती अर्थ :- पिताजी जे कई करी रह्या छे वली माताने अहीं जे अत्यंत मान्य छे तथा जे अतिशय गुणकारी छे ते जे मारे पण करवु जोड़ये।

हिन्दी अनुवाद :- इस विषय में पिताजी जो कहते हैं, माता को जो मान्य हो एवं अतीव गुणकारी हो वही मैं करूंगी।

गाहा :-

जह अब्भुदओ तायस्स होइ, जह होइ नावया कयावि ।

तह चेव य कायव्वं मएवि, किं एत्थ अन्नेण? ॥१९७॥

संस्कृत छाया :-

यथा अभ्युदयः तातस्य भवति यथा भवति नापत् कदापि ।

तथा चैव च कर्तव्यं मयापि किमत्रान्येन? ॥१९७॥

गुजराती अर्थ :- जे प्रमाणे पितानो अभ्युदय थाय अने जे प्रमाणे कोईपण आपत्ति न आवे ते प्रमाणे हुं पण स्वीकारीशा अहीं बीजा विकल्पवडे शुं?

हिन्दी अनुवाद :- जिस प्रकार पिताजी का अभ्युदय हो, तथा कोई आपत्ति न आवे इस प्रकार मैं करूंगी, यहाँ अन्य विकल्प करने से क्या?

गाहा :-

प्रसन्न पिता

तत्तो य चित्तमाला तव्वयणं कहइ नियय-दइयस्स ।

तं सोउं अमियगई हरिसिय-वयणो इमं भणइ ॥१९८॥

संस्कृत छाया :-

ततश्च चित्रमाला तद्वचनं कथयति निज-दयितायै।

तत्श्रुत्वा अमितगति-हर्षितवदन इदं भणति ॥१९८॥

गुजराती अर्थ :- हवे माता चित्रमालाए ते वचन पोताना पतिने कह्या अने ते सांभलीने अति प्रसन्न थयेल राजा अमितगति आ प्रमाणे बोलवा लाग्या।

हिन्दी अनुवाद :- फिर माता चित्रमाला ने वही वचन अपने पतिदेव से कहा। यह सुनकर अति प्रसन्न हुए राजा अमितगति इस प्रकार कहने लगे।

गाहा :-

सुंदरमणुद्वियं हंदि! मज्झ धूयाए जणय-भत्ताए।

दक्खिन्न-वयण-विन्नाण-पगरिसो दंसिओ एवं ॥१९९॥

संस्कृत छाया :-

सुंदरमनुष्ठितं हंदि! मम दुहितुः जनकभक्तायाः।

दाक्षिण्य-वचन-विज्ञान-प्रकर्षो दर्शितश्चैवम् ॥१९९॥

गुजराती अर्थ :- पितानी भक्ति थी मारी पुत्रिए। अहो! अतिसुदंर कर्यु - मारी पुत्रीए दाक्षिण्ययुक्त वचनना ज्ञाननो आ प्रकर्ष बताव्यो छे! निश्चे संतति आवी विनययुक्त ज होवी जोइए।

हिन्दी अनुवाद :- मेरी पुत्री ने पिताजी की भक्ति से सुंदर कार्य किया है। पुत्री ने दाक्षिण्य युक्त वचन द्वारा अपने ज्ञान का प्रकर्ष दिखलाया है।

गाहा :-

तत्तो पभाय-समए रायामच्चेहिं वरणयं तीसे।

महया विच्छडेणं विहियं कय-जणय-आणंदं ॥२००॥

संस्कृत छाया :-

ततः प्रभातसमये राजा-अमात्यैः वरणकं तस्याः।

महता विच्छर्देन विहितं कृत-जनकानन्दम् ॥२००॥

गुजराती अर्थ :- तयारपछी प्रभात समये राजा वडे अमात्यो सहित मोटा महोत्सव पूर्वक पिताने आनन्द आपनार एवो तेणीनो लग्न महोत्सव प्रारंभ करायो।

हिन्दी अनुवाद :- उसके पश्चात् प्रातः काल में राजा के मन्त्री द्वारा पिताजी को आनन्द देनेवाला बड़े ठाट से उनका लग्न महोत्सव प्रारम्भ किया गया।

गाहा :-

एवं च ठिए

तुह मण-निव्वुइ-हेउं तीए वयणेण आगया अहयं।

कहणत्थं पत्थुय-वत्थु-वित्थरस्सेत्थ तुह पासे ॥२०१॥

संस्कृत छाया :-

एवं च स्थिते

तव मनो-निर्वृत्ति-हेतुं तस्या वचनेनागताऽहम् ।

कथनार्थं प्रस्तुत-वस्तु-विस्तारस्यात्र तव पार्श्वे ॥२०१॥

गुजराती अर्थ :-

अने आ प्रमाणे थये छते

हे चित्रवेग! तमारा मगनी शांतिने माटे कनकमालाना कहेवा थी प्रस्तुत वस्तुना विस्तारने कहेवा माटे हुं तमारी पासे आवी छुं।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार होने पर

हे चित्रवेग! आपके मन की निवृत्ति हेतु कनकमाला के कहने से प्रस्तुत विषय को विस्तार से कहने के लिए मैं आपके पास आई हूँ।

गाहा :-

ता मा सुंदर! वरणय-सवणाओ दुम्मणो तुमं होसु।

जं देवयाए वयणं अलियं न य हवइ एयं तु ॥२०२॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् मा सुन्दर! वरण-श्रवणतः दुर्मनस्त्वं भव ।

यद् देवतायाः वचनमलीकं न च भवेत् एतत्तु ॥२०२॥

गुजराती अर्थ :- वली हे सुन्दर! लग्गनी वात सांभलीने तमारे जरा पण मग दुभाववु नही, कारण के देवतानी वाणी असत्य क्यारेय नथी थती!

हिन्दी अनुवाद :- पुनः हे सुन्दर! विवाह की बात सुनकर आप तनिक भी चिंतित मत होना क्योंकि देवता की वाणी कभी असत्य नहीं होती है।

गाहा :-

एवं च कणगमाला भाणेइ न नाह! तं पमोत्तूण ।

अन्नस्स करो लग्गइ मह हत्थे इत्थ जम्मम्मि ॥२०३॥

संस्कृत छाया :-

एवं च कनकमाला भणयति न नाथ! त्वां प्रमुच्य ।

अन्यस्य करो लगति मम हस्ते अत्र जन्मनि ॥२०३॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे हे नाथ! कनकमाला ए मारा द्वारा कहेवराव्यु छे वली सविशेष कह्यु छे के, आ जन्ममां तमारा सिवाय अन्य कोई पुरुषणते हाथ मारा हाथमा जोडावानो नथी!

हिन्दी अनुवाद :- हे नाथ! इस प्रकार कनकमाला ने मेरे द्वारा कहलाया है। पुनः सविशेष कहा है कि आपके अलावा किसी भी पुरुष का हाथ मेरे हाथ से जुड़ नहीं सकेगा।

गाथा :-

देवय-वयणं जइ होइ सच्चयं ता धरेमि निय-पाणा।

तदभावे पुण सरणं मरणं मह निच्छओ एसो ॥२०४॥

संस्कृत छाया :-

देवतावचनं यदि भवति सत्यं तस्माद् धारयामि निजप्राणान्।

तदभावे पुनः शरणं मरणं मम निश्चय एषः ॥२०४॥

गुजराती अर्थ :- जो देवता वचन सत्य थयो तो हुं प्राणोने धारण करीश अन्याथा मरण एज मारू शरण छे। आ मारो निश्चय छे।

हिन्दी अनुवाद :- यदि देवता-वचन सत्य होगा तो मैं प्राणों-को धारण करूंगी, अन्यथा मरण ही शरण है, यह मेरा निश्चय है।

गाथा :-

मननी शान्ति

भो सुप्पइड्डु! एवं सोमलया-वयण-सवणओ तइया।

जायं मणयं मह माणसस्स सत्थत्तणं तत्तो ॥२०५॥

संस्कृत छाया :-

भोः! सुप्रतिष्ठ! एवं सोमलता-वचन-श्रवणतस्तदा।

जातं मनाग् मम मानसस्य स्वस्थत्वं ततः ॥२०५॥

गुजराती अर्थ :- हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे सोमलताना वचन श्रवणथी त्यारे मारू मन कांडक स्वस्थाताने पाय्यु।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार सोमलता के वचन से मेरा मन कुछ स्वस्थता को प्राप्त हुआ।

गाथा :-

एवं विचिंतियं मे केवलिणा जेण एरिसं भणियं।

पुव्व-भव-नेह-बद्धा होही भज्जत्ति, ता एयं ॥२०६॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्तितं मम केवलिना येनेदृशं भणितम्।

पूर्वभवस्नेहबद्धा भविष्यति 'भार्या' इति तस्मादेतद् ॥२०६॥

गुजराती अर्थ :- मे विचार्यु के केवली भगवंते मने जे कारण थी कह्युं छे के, पूर्वभवना स्नेह थी बंधायेल पत्नी मारी भार्या थयो, तेथी आ बधु थयु छे।

हिन्दी अनुवाद :- मैंने सोचा कि केवली भगवंत ने मुझे जिस लिये कहा कि, पूर्वभव के स्नेह से युक्त पत्नी मेरी प्रिया होगी, इसलिये यह हुआ है।

गाहा :-

संभवइ नूण अम्हं अवरोप्पर-दंसणाओ अइगरुओ।

अणुराओ जाओ जं सुम्मइ लोय-प्पवाओ य ॥२०७॥

संस्कृत छाया :-

संभवति नूनं आवयोः परस्परं दर्शनादतिगुरुकः ।

अनुरागो जातो यत् श्रूयते लोकप्रवादश्च ॥२०७॥

गुजराती अर्थ :- खरेखर अमने बझेने परस्पर जोवामात्र थी गाढ़ अनुराग थयो छे, अने आ प्रमाणे लोकप्रवाद पण संभळाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- निश्चय ही हम दोनों को दृष्टिपात से गाढ़ अनुराग हुआ है और इस प्रकार लोकप्रवाद भी सुनाई देता है।

गाहा :-

जाइसराइं मन्ने इमाइं नयणाइं सयल-लोयस्स।

वियसंति पिये दिट्ठे अव्वो! मडलंति वेसम्मि ॥२०८॥

संस्कृत छाया :-

जातिस्मराणि मन्ये इमानि नयनानि सकल-लोकस्य ।

विकसन्ति प्रिये दृष्टे अहो! मुकुलयन्ति द्वेष्ये ॥२०८॥

गुजराती अर्थ :- जातिनु स्मरण करनारा दरेक मनुष्यना नेत्रो प्रियना दर्शान थवा मात्रथी विकसित थाय छे। अने द्वेषीने जोवा मात्रथी नेत्रो मींचाई जाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- मुझे लगता है कि जातिस्मरण से, सभी मनुष्यों को प्रिय के दर्शन से लोचन विकसित होते हैं और द्वेषी को देखने से नेत्र बंद हो जाते हैं।

गाहा :-

ता भवियव्वं इमिणा नवरं अइदुग्घडम्ह पडिहाइ।

जं सा राय-सुएणं वरिया कह मज्झ होहिन्ति? ॥२०९॥

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भवितव्यमनेन नवरं अतिदुर्घटं मम प्रतिभाति।

यत् सा राजसुतेन वृत्ता कथं मम भविष्यतीति? ॥२०९॥

गुजराती अर्थ :- परंतु आवो प्रसंग बनवो मने अतिदुर्घट लागे छे कारण के राजपुत्र वड़े परणेली ते मारी केवी रीते थशे?।

हिन्दी अनुवाद :- किन्तु ऐसा प्रसंग होना मुझे अति दुर्घट लगता है। क्योंकि राजपुत्र से विवाहित ऐसी वह मेरी कैसे होगी।

गाहा :-

एवं विचिंतिरुणं तंबोल-पयाण-पुव्वयं भणिया।

जं किंचि एत्थ होही दीसिस्सइ तं सयं अंबे!।२१०।।

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य ताम्बुलप्रदानपूर्वकं भणिता।

यत् किञ्चिद् अत्र भविष्यति द्रक्ष्यति तत्स्वयं हे! अम्ब ॥२१०॥

गुजराती अर्थ :- आम विचार करीने तांबूल आपवा पूर्वक मारा वडे सोमलता कहेवायी, हे माता! अहीं जे कांई थाय ते स्वयं देखारो।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सोचकर तांबूल प्रदान करते हुए मैंने सोमलता से कहा, माता! यहाँ जो कुछ भी हो वह दीखेगा।

गाहा :-

भणियं सोमलयाए एवं एयंति नत्थि संदेहो।

ततो विहिय-पणामा उट्ठिय स-ट्ठणमणुपत्ता।।२११।।

संस्कृत छाया :-

भणितं सोमलतया एवं एतदिति नास्ति संदेहः।

ततो विहित-प्रणामोत्थाय स्वस्थानमनुप्राप्ता।।२११।।

गुजराती अर्थ :- सोमलता-ए कह्यु 'आम ज थयो आमा कोई संदेह न करो।' एम कहीने प्रणाम करीने उठीने पोताना स्थाने ते गई।

हिन्दी अनुवाद :- सोमलता ने कहा 'ऐसा ही होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है'। ऐसा कहकर प्रणाम कर अपने स्थान पर चली गई।

गाहा :-

स्वप्न नो अर्थ

अह भणइ भाणुवेगो पुव्विं दिट्ठस्स तस्स सुमिणस्स।

लेसेण कोवि अत्थोऽवधारिओ ताव तं सुणसु।।२१२।।

संस्कृत छाया :-

अथ भणति भानुवेगः पूर्वं दृष्टस्य तस्य स्वप्नस्य।

लेशेन कोऽपि अर्थोऽवधारितस्तावत् तं शृणु।।२१२।।

गुजराती अर्थ :- हवे भानुवेग बोल्थो, पहलेला जोयेला तारा ते स्वप्ननो लेशा-मात्र में अर्थनो निश्चय कर्यो छे तेने तुं सांभळ।

हिन्दी अनुवाद :- फिर भानुदेव ने कहा - पहले तेरे द्वारा देखे गये स्वप्नार्थ का यत्किंचित् निश्चय कर सका हूँ! उसे तू सुन!

गाहा :-

एसा हु कणगमाला माला होहिति, तीए जो रागो।

तगहणं तं जाणसु वरणं पुण तीए अप्पत्ती ॥२१३॥

संस्कृत छाया :-

एषा खलु कनकमाला माला भविष्यति तस्या यो रागः ।

तद्ग्रहणं त्वं जानीहि वरणं पुनः तस्या अप्राप्तिः ॥२१३॥

गुजराती अर्थ :- प्रथम जे ते पुष्पोनी माला जोई ते ते आ कनकमाला जाणवी, तेणीनो जे राग ते तेनु ग्रहण जाणवु, वळी तेणीनी अप्राप्ति ते लग्न जाण।

हिन्दी अनुवाद :- तूने प्रथम जो पुष्पमाला देखी उसे कनकमाला, उनके पर जो राग, वही उसका ग्रहण, पुनः उसकी अप्राप्ति वह लग्न जान।

गाहा :-

एत्तियमेत्तो अत्थो परिष्फुडो ताव जाणिओ हु मए।

सेसंपि हु अव्वत्तं वियाणियं किंचि तं सुणसु ॥२१४॥

संस्कृत छाया :-

एतदमात्रोर्थो परिस्फुटः स्तावद् ज्ञातः खलु मया।

शेषमपि खलु अव्यक्तं विज्ञातं किञ्चित् तत् शृणु ॥२१४॥

गुजराती अर्थ :- आटलो मात्र अर्थ हुं स्पष्ट समजी शक्यो छु वळी बाकीनुं कंडक अस्पष्ट पणे जाणु छुं ते तुं सांभळ?

हिन्दी अनुवाद :- इतना ही अर्थ मैं स्पष्टता से समझ सका हूँ, दूसरा कुछ अस्पष्टता से ज्ञात है वह भी तू सुन।

गाहा :-

कोवि उवाएण इमं अप्पिस्सइ तुज्झ सा पुणो कहवि।

भट्ठा तुह हत्थाओ पाविस्सइ आवइं गरुइं ॥२१५॥

संस्कृत छाया :-

कोऽप्युपायेनेमां अर्पिष्यते तुभ्यं सा पुनः कथमपि।

भ्रष्टा तव हस्तात् प्राप्स्यते आपत्तिं गुर्वीम् ॥२१५॥

गुजराती अर्थ :- कोईपण उपाय वडे ते कनकमाला तने आपसो अने तारा हाथ मां थी पडी गयेली ते दुर्धर आपत्तिने पामसो।

हिन्दी अनुवाद :- कोई भी उपाय के द्वारा वह कनकमाला तुझे दी जायेगी पुनः हाथ में से गिरी हुई वह दुर्धर आपत्ति पायेगी।

गाहा :-

ततो रक्खिय कोवि हु ढोइस्सइ तुज्झ तेण पज्जंतो।

सुविणस्स सुंदरो इय विणिच्छिओ सुविण-सम्भावो।।२१६।।

संस्कृत छाया :-

ततो रक्षित्वा कोऽपि खलु ठौकिष्यते तव तेन पर्यन्तः।

स्वप्नस्य सुन्दर इति विनिश्चितः स्वप्न-सद्भावः।।२१६।।

गुजराती अर्थ :- वली ते आपत्तिमांथी कोई पण पुरुष तेनी रक्षा करी फरी ते तारा हाथमां आपणो माटे आ स्वप्ननुं फल सुन्दर छे एम मे निश्चय कर्यो!

हिन्दी अनुवाद :- पुनः उस आपत्ति में भी कोई भी पुरुष तुम्हारी रक्षाकर पुनः तेरे हाथ में देगा, अतः इस स्वप्न का फल सुन्दर है, ऐसा मैंने निश्चय किया है।

गाहा :-

तं सोउं मए भणियं सम्मं हि विणिच्छियं तुमे सुयणु!।

घडइ जओ एसत्थो नवरं अइदुग्घडो लोहो।।२१७।।

संस्कृत छाया :-

तत् श्रुत्वा मया भणितं सम्यक् खलु विनिश्चितं त्वया सुतनो!।

घटते यत एषोऽर्थो नवरं अतिदुर्धरो लोभः।।२१७।।

गुजराती अर्थ :- ते सांभलीने मे तेने कह्यु, हे सुतनु! ते जे निश्चय कर्यो छे ते सम्यक् छे आवो ज अर्थ घटे छे, बीजो नही, आ लोभ अतिदुर्धर छे।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सुनकर मैंने उसे कहा, हे सुतनु! तुने जो निश्चय किया है वह सम्यक् है। ऐसा ही अर्थ घटित होता है अन्य नहीं। यह लोभ अतिदुर्धर है।

गाहा :-

तो भणइ भाणुवेगो वत्थुं न तं अत्थि एत्थ लोगम्मि।

अणुकूलस्स उ विहिणो जं मन्ने दुग्घडं होइ।।२१८।।

संस्कृत छाया :-

तस्माद् भणति भानुवेगो वस्तु न तदस्त्यत्र लोके।

अणुकूलस्य तु विधेर्यद् मन्ये दुर्घटं भवति।।२१८।।

गुजराती अर्थ :- ते सांभली फरी भानुवेग बोळ्यो, आ लोक मां भाग्य अणुकूल होय तो कोई पण दुर्घट न थाय एम हुँ मानु छु।

हिन्दी अनुवाद :- यह सुनकर पुनः भानुवेग ने कहा, इस लोक में यदि भाग्य अनुकूल हो तो कोई भी दुर्घटना न हो, ऐसा मैं मानता हूँ।

गाथा :-

भो सुप्पइड्डु! एवं पइदियहं तक्कहा-विणोएण।

तँप्पावण-आसाए वोलीणा वासरा कइवि।।२१९।।

संस्कृत छाया :-

भो सुप्रतिष्ठ! एवं प्रतिदिवसं तत् - कथाविनोदेन।

तत्प्रापण - आशायां व्यतीता वासराः कत्यपि।।२१९।।

गुजराती अर्थ :-

हे सुप्रतिष्ठ ! आ प्रमाणे रोज तेनी कथा करवाना आनन्द वडे तेने प्राप्त करवानी आशा वडे केटलाक दिवसो पसाट कर्या।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार रोज कथा द्वारा आनन्दित होते हुए मिलन की आशा में ही कितने दिन बीत गये।

गाथा :-

लग्न महोत्सव दिन

आसन्नमागयं अह लग्ग-दिणं ताहि खयर-परियरिओ।

महया विच्छड्डेणं बंधु-जण-समन्निओ तत्थ।।२२०।।

संस्कृत छाया :-

आसन्नमागतमथ लग्नदिनं तदा खेचर-परिवृतः।

महता विच्छर्देन बन्धुजनसमन्वितस्तत्र ।।२२०।।

गुजराती अर्थ :- अनुक्रमे लग्नदिवस नजीक आवी गयो त्यारे खेचरोथी परिवरेलो, बन्धुजनना समुदाय थी शोभतो मोटा महोत्सव साथे त्यां-

हिन्दी अनुवाद :- लग्नदिन भी नजदीक आ गया, तब खेचरों से परिवृत, बन्धुजन-समुदाय से शोभित बड़े महोत्सव के साथ-

गाथा :-

वीवाहत्थं तीए नहवाहण-खयर-राय-अंगरुहो ।

संपत्तो अह पत्ता कमेण सा पंचमि-तिहीवि।।२२१।।

संस्कृत छाया :-

विवाहार्थं तस्या नभोवाहन-खेचर-राजाङ्ग-रुहः।

सम्प्राप्तोऽथ प्राप्ता क्रमेण सा पञ्चमी-तिथ्यपि ।।२२१।।

गुजराती अर्थ :- नभोवाहन राजकुमार ते कनकमालानी साथे परणवा माटे आव्यो अने क्रमे करीने ते पंचमी तिथि पण आवी गई।

हिन्दी अनुवाद :- नभोवाहन राजकुमार कनकमाला के साथ विवाह करने के लिए आया और क्रम से पंचमी तिथि भी आ गई।

गाहा :-

कुविकल्प

ततोऽवरणह-समए मज्झ विगप्पो मणम्मि उप्पन्नो ।

अव्वो! किं तं अलियं होही इह देवया-वयणं? ॥२२२॥

संस्कृत छाया :-

ततोऽपराह-समये मम विकल्पो मनस्युत्पन्नः ।

अहो! किं तदलीकं भविष्यति इह देवतावचनम्? ॥२२२॥

गुजराती अर्थ :- त्याह पछी बपोरना समये मारा मनमां लिकल्प उत्पन्न थयो।अरे! शुं अहीं ते देव वाणी पण अस्तत्य थथे?

हिन्दी अनुवाद :- अतः मध्याह्न के समय में मेरे मन में विकल्प उत्पन्न हुआ, अरे! क्या तो देववाणी भी अशक्य होगी!!

गाहा :-

अहव न दीसइ किंचिवि अणुरूवं तस्स तेण मन्नामि ।

सोमलया-वज्जरियं सव्वमलीगं हि संजायं ॥२२३॥

संस्कृत छाया :-

अथवा न दृश्यते किञ्चिदप्यनुरूपं तस्य तेन मन्ये ।

सोमलता-व्याहृतं सर्वमलीकं खलु सज्जातम् ॥२२३॥

गुजराती अर्थ :- अथवा तेना कथन प्रमाणे अहीं कांई पण अनुरूप देखातु नथी तेथी हुं मानुं छु के सोमलता ए कहेलु बधु ज मिथ्या थयु छे।

हिन्दी अनुवाद :- अथवा उनके कथनानुसार यहां कुछ भी अनुरूप नहीं दिखाई देता है। अतः मैं मानता हूँ कि सोमलता ने कहा हुआ सभी कुछ मिथ्या हुआ है।

गाहा :-

एमाइ-बहु-विगप्पं चिंतंतो रणरणेण गहिओ हं ।

कथवि धिइमलहंतो नीहरिओ ताओ नयराओ ॥२२४॥

संस्कृत छाया :-

एवमादि-बहुविकल्पं चिन्तयन् रणरणेन (उद्वेगेन) ग्रहीतोऽहम् ।

कुत्रापि धृतिमलभमानो निस्सृतस्ततो नगरात् ॥२२४॥

गुजराती अर्थ :- इत्यादि घणा विकल्पोने करतो उद्विग्न थयो अने क्यांय पण धीरज नही प्राप्त करतो। ते नगरमाथी हुं बहार नीकली गयो।

हिन्दी अनुवाद :- इत्यादि बहुत विकल्पों द्वारा मैं व्यथित हो गया, कहीं भी धैर्य को प्राप्त नहीं करता नगर से बाहर निकल गया।

गाहा :-

पत्तो य तमुज्जाणं सच्चविया जत्थ सा मए पुव्विं।

अंदोलण-तरु-हिट्ठे गंतुमहं ताहि उवविट्ठो ॥२२५॥

संस्कृत छाया :-

प्राप्तश्च तदुद्यानं दृष्ट्वा यत्र सा मया पूर्वम् ।

अंदोलन-तर्वधो गत्वाऽहं तत्रोपविष्टः ॥२२५॥

गुजराती अर्थ :- अने ते उद्यानमा आव्यो के ज्यां पहेला में तेने जोई हती। तेज हींचकावाला वृक्षनी नीचे जईने हुं त्यां बेठो।

हिन्दी अनुवाद :- और उसी उद्यान में आया जहाँ मैंने उसे पहले देखा था वहीं झूले-वाले वृक्ष के नीचे जाकर मैं बैठ गया।

गाहा :-

अह चिंतिउं पयत्तो इण्हं किं मज्झ काउमुचियं तु।

पर-हत्थं संपत्ता ताव पिया मह नियंतस्स ॥२२६॥

संस्कृत छाया :-

अथ चिन्तयितुं प्रयत इदानीं किं मम कर्तुमुचितं तु ।

परहस्तं सम्प्राप्ता तावत् प्रिया मम पश्यतः ॥२२६॥

गुजराती अर्थ :- पछी हुं विचारवा लाग्यो अत्याटे माटे शुं करवु उचित छे? मारा जोता ज मारी प्रिया बीजाना हाथमां गई!

हिन्दी अनुवाद :- फिर मैं सोचने लगा फिलहाल मुझे क्या करना चाहिए? मेरे देखते ही मेरी प्रिया दूसरों के हाथ में चली गई।

गाहा :-

देवय-वयणासाए नेव उवाओवि चिंतिओ कोवि।

इण्हं पुण नो सक्कं किंपि उवायंतरं काउं ॥२२७॥

संस्कृत छाया :-

देवतावचनाऽऽशायां नैवोपायोऽपि चिन्तितः कोऽपि ।

इदानीं पुनः न शक्यं किमपि उपायान्तरं कर्तुम् ॥२२७॥

गुजराती अर्थ :- देववाणीनी आशावडे मे बीजो कोई उपाय पण न विचार्यो वली हमणां तात्कालिक बीजो उपाय करवा माटे पण हुं समर्थ नथी।

हिन्दी अनुवाद :- आकाशवाणी की आशा से मैंने कुछ उपाय भी नहीं सोचा, पुनः तात्कालिक अन्य उपाय करने के लिए भी मैं समर्थ नहीं हूँ।

गाहा :-

एसोवि हु अणुरागो एवंपि गए न तुट्टए कहवि।

पडसमयं च पवड्डइ संतावो विरह-संजणिओ।।२२८।।

संस्कृत छाया :-

एषोऽपि खल्वनुराग एवमपि गते न त्रुटति कथमपि।

प्रतिसमयं च प्रवर्धते संतापो विरहसंजनितः।।२२८।।

गुजराती अर्थ :- आ पण अनुराग जबरो छे आ प्रमाणे ते गये छते पण राग टुटतो नथी! पण प्रतिसमय विरहथी उत्पन्न थयेलो संताप वधे छे!

हिन्दी अनुवाद :- यह अनुराग भी प्रबल है। उनके जाने पर भी राग कम नहीं होता है किन्तु प्रतिसमय विरह का संताप बढ़ता जाता है।

गाहा :-

अवि य

दुल्लह-लंभम्मि जणे जस्सिह पुरिसस्स होइ अणुरागो।

छिल्लरय-पाणिणव अणुदियहं तेण सुसियव्वं।।२२९।।

संस्कृत छाया :- अपि च

दुर्लभलब्धे जने यस्येह पुरुषस्य भवत्यनुरागः।

पल्वल-पानीयेनेव अनुदिवसं तेन शोष्यम्।।२२९।।

गुजराती अर्थ :-

वळी पण

दुर्लभताथी मेलवी शकाय एवा जन्ने त्रिषे अहीं जे पुरुषने अनुराग थाय छे ते तळावडी नां पाणीनी माफक दररोज शोषाई जाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- फिर भी, दुर्लभता से प्राप्त हो सके ऐसे जन के ऊपर पुरुष का अनुराग होता है। वह तालाब के पानी के सदृश प्रतिदिन सूखता जाता है।

गाहा :-

गरुय-प्रिय-संगमासा-भंस-समुच्छलिय-रणरणाइन्नं।

न य जाणे व हहव इमं निय-हिययं संठवामित्ति?।।२३०।।

संस्कृत छाया :-

गुरुक-प्रिय-संगमाऽऽशाभ्रंश-समुच्छलित-रणरणाकीर्णम् (औत्सुक्यम्)।

न च जानामि कथं वा इदं निजहृदयं संस्थापयामीति?।।२३०।।

गुजराती अर्थ :- प्रियाना समागम नी आशा भ्रष्ट थवाथी उत्पन्न थयेला नीसासा वडे हुं जाणतो नथी के मारा हृदयने केवी रीते स्थिर राखु?

हिन्दी अनुवाद :- प्रिया के समागम की आशा से भ्रष्ट होने से निःश्वास निकलने से अपने हृदय को किस तरह स्थिर रखूं मैं वह भी नहीं जानता?

गाहा :-

ता किं करेमिं इण्हं अहवा किं एत्थ बहु-विगप्पेहिं।

गुरु-विरह-दुःख-समणो पाण-च्चाओ परं जुत्तो॥२३१॥

संस्कृत छाया :- मरण साहस

तस्मात् किं करोमीदानीमथवा किमत्र बहुविकल्पैः।

गुरुविरह-दुःखशमनः प्राणत्यागः परं युक्तः॥२३१॥

गुजराती अर्थ :- हवे हूं शूं करू? अथवा अत्यारे बहुविचारो वड़े शूं! थशे. मोटाविरहना दुःखने शमाववा करता प्राणत्याग करवो एज परम उपाय छे।

हिन्दी अनुवाद :- अब मैं क्या करूं? अथवा बहुविकल्पों से क्या फायदा? भारीविरह के दुःख को शान्त करने के लिए प्राणत्याग ही परम उपाय है।

गाहा :-

जइवि न जुज्जइ एसो विवेय-जुत्ताण उत्तम-नराण।

तीए विरहे तहवि हु सक्केमि न जीवियं धरिउं॥२३२॥

संस्कृत छाया :-

यद्यपि न युज्यते एषो विवेकयुक्तानामुत्तमनराणाम्।

तस्या विरहे तथापि खलु शक्नोमि न जीवितं धर्तुम्॥२३२॥

गुजराती अर्थ :- विवेक युक्त योग्य मनुष्योने जो के आ योग्य नथी तो पण तेणीना विरहमां जीवित धारण करवा माटे पण हूं समर्थ नथी।

हिन्दी अनुवाद :- विवेक युक्त योग्य मनुष्य को यह उचित नहीं है। फिर भी विरहावस्था में जीवन धारण करना भी मेरे लिए शक्य नहीं है।

गाहा :-

ता एत्थेव तरु-वरे तीए अंदोलणेण सुपवित्ते।

उब्बंधिय अप्पाणं पाण-च्चायं करेमिति॥२३३॥

संस्कृत छाया :- पाश बंधन

ततोऽत्रैव तरुवरे तथा अन्दोलनेन सुपवित्त्रे।

उद्बध्याऽऽत्मानं प्राणत्यागं करोमीति॥२३३॥

गुजराती अर्थ :- आथी तेणीना हींचका वड़े पवित्र थयेला आ ज वृक्ष पर शाखा वड़े गळे पाशो बांधीने हूं प्राण त्याग करू?

हिन्दी अनुवाद :- अतः कनकमाला के झूलने से पवित्र बने हुए उसी वृक्ष की शाखा द्वारा गले में पाश बांधकर प्राणों का त्याग कर दूं।

गाहा :-

एवं विचिंतिऊणं आरूढो तम्मि तरु-वरे अहयं ।
दाउं गलए पासं अह एवं भणिउमाढत्तो ॥२३४॥

संस्कृत छाया :-

एवं विचिन्त्य आरूढस्तस्मिन् तरुवरेऽहम् ।
दत्त्वा गलके पाशमथैवं भणितुमारब्धः ॥२३४॥

गुजराती अर्थ :- आम विचारीने ते वृक्ष ऊपर हुं चढ्यो अने डोकमां पाश बांधीने आ प्रमाणे बोलवा माटे प्रारंभ कर्यो।

हिन्दी अनुवाद :- ऐसा सोचकर उस वृक्ष पर मैं आरूढ़ हुआ, और गले में पाश बांधकर इस प्रकार कहने लगा।

गाहा :-

रे दिव्व! अन्न-जम्मे दुल्लह-लंभम्मि माणसे नेहं ।
मा मह करिज्ज एसा हु पत्थणा तुह माए विहिया ॥२३५॥

संस्कृत छाया :-

रे दैव! अन्य-जन्मनि दुर्लभलब्धे मानुष्ये स्नेहम् ।
मा मम कुर्याद् एषा खलु प्रार्थना तव मया विहिता ॥२३५॥

गुजराती अर्थ :- हे दैव! अन्य जन्ममां दुर्लभ प्राप्त मनुष्य ऊपर मारो स्नेह कराववो नहीं, आ मात्ती तने प्रार्थना छे।

हिन्दी अनुवाद :- हे दैव! अन्य जन्म में दुर्लभ प्राप्त मनुष्य पर मुझे स्नेह मत कराना, यही मेरी प्रार्थना है।

गाहा :-

अन्नं च
केवलिणो तं वयणं, सा वाया देवियावि, तं सुविणं ।
आसा-निबंधणं मज्झ दिव्व! सव्वं कयं अलियं ॥२३६॥

संस्कृत छाया :-

अन्यं च
केवलिनस्तद्वचनं सा वाग् दैविकापि तत्स्वप्नम् ।
आशानिबन्धनं मम हे दैव! सर्वं कृतमलीकम् ॥२३६॥

गुजराती अर्थ :- अने वळी

केवली भगवंतना ते वचन, ते देववाणी, ते स्वप्न, आ बधु ज हे दैव! आशाना पाशाथी बंधायेत मारू फोगट थयु।

हिन्दी अनुवाद :- और भी, केवली भगवंत की वाणी, आकाशवाणी, तथा स्वप्न हे देव! यह सब आशा के बन्धन की तरह निष्फल हो गये।

गाहा :-

एवं भणिऊण मए मुक्को अप्पा अहो-मुहो झत्ति।

ताहे गाढीभूए पासम्मि सरीर-भारेण ॥२३७॥

संस्कृत छाया :-

एवं भणित्वा मया मुक्तो आत्मा अधोमुखो झटिति।

तदा गाढीभूते पाशे शरीरभारेण ॥२३७॥

गुजराती अर्थ :- आ प्रमाणे कहिने मे जल्दीथी शरीरने अधोमुख कर्तुं त्यारे शरीरना भारथी गलानी अंदर रहेलो पाश सज्जड़ थई गयो।

हिन्दी अनुवाद :- इस प्रकार कहकर मैंने जल्दी से शरीर अधोमुख किया, तब शरीर के भार से गले में पाश मजबूत हो गया।

गाहा :-

रुद्धं गलयं आकुंचियाओ धमणीओ पसरिया वियणा।

भगं लोयण-जुयलं रुद्धो पवणस्स संचारो ॥२३८॥

संस्कृत छाया :-

रुद्धं गलकमाकुञ्चिता धमनयः प्रसृता वेदना।

भग्नं लोचनयुगलं रुद्धः पवनस्य सञ्चारः ॥२३८॥

गुजराती अर्थ :- कंठ रुंधाई गयो, नाडीओ खँचावा लागी, वेदना वधवा लागी आंखो ना डोला बहार आवी गयो। श्वासोच्छ्वास पण बंध थवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- कंठ रुद्ध हो गया, नाड़ियाँ खिंचने लगी, वेदना बढ़ गई, आँखे बाहर आ गई, श्वासोच्छ्वास भी बंद हो गये।

गाहा :-

उव्वेल्लियमंगेहिं जायं उदरं च पवण-पडिहत्थं।

करणाइं घाइयाइं जाया अह वेयणा मंदा ॥२३९॥

संस्कृत छाया :-

उद्वेलितमङ्गैर्जातमुदरं च पवनपूर्णम्।

करणानि घातितानि जाताऽथ वेदना मंदा ॥२३९॥

गुजराती अर्थ :- (हाथ-पग) आदि अंगो जकडाइ गयो, उदर पण वायुथी भर्राई गयो, इन्द्रियो क्षीण थवा लागी, वेदना क्षीण थवा लागी।

हिन्दी अनुवाद :- हाथ-पैरादि अंग जकड़ गये, उदर वायु से भर गया, इन्द्रियाँ क्षीण होने लगीं तथा वेदना मन्द हो गई।

गाहा :-

भो सुष्यङ्गु! एवं वियणा-परिमंद-इंदिण मए!
एत्थंतरम्मि निसुओ सहो अपणङ्गु-चित्तेण ॥२४०॥

संस्कृत छाया :-

भो सुप्रतिष्ठ! एवं वेदना-परिमन्देन्द्रियेण मया ।
अत्रान्तरे निःश्रुतः शब्दो अप्रणष्टचित्तेन ॥२४०॥

गुजराती अर्थ :- हे सुप्रतिष्ठ! आ प्रमाणे वेदनाथी इन्द्रियो नो व्यापार मंद थयो। टेटलीवारमां कंडक चेतनावाळा मारा वडे शब्द संभळायो।

हिन्दी अनुवाद :- हे सुप्रतिष्ठ! इस प्रकार वेदना से इन्द्रियों का व्यापार मंद हो गया, उतने क्षणों में किंचित् चेतनावान् मेरे द्वारा शब्द सुने गये।

गाहा :-

मा साहस मा साहसमेयं काउरिस-जण-समाइण्णं।
आयरिय देव-दुल्लह-निय-रूवं भद्र! नासेसु ॥२४१॥

संस्कृत छाया :-

मा साहस मा साहस-मेतत् कापुरुषजनसमाचीर्णम्।
आचर्य देवदुर्लभ-निजरूपं हे भद्र! नाशय ॥२४१॥

गुजराती अर्थ :- हे भद्र! साहस न कर, कायर पुरुषने योग्य एवु दुं साहसिक आचरण करीने देवदुर्लभ एवा (पोताना रूपनो) मनुष्यत्व नो नाशा न कर।

हिन्दी अनुवाद :- हे भद्र! तू साहस मत कर कायरजन की तरह ऐसा साहस करके देवदुर्लभ ऐसे मनुष्यत्व का नाश मत कर।

गाहा :-

पाश छेद

एत्थंतरम्मि केणवि लंबंतं उक्खिवित्तु मह देह।
लहु च्छिंदिऊण पासं विहिओ मिउ-सीयलो षवणो ॥२४२॥

संस्कृत छाया :-

अत्रान्तरे केनापि लम्बमानमुत्क्षिप्य मम देहम्।
लघु छिन्दित्वा पाशं विहितो मृदुशीतलः पवनः ॥२४२॥

गुजराती अर्थ :-

एटलामा कोडक पुरुष वृक्षनी शास्त्राए लटकता मारा देहना पाशने भेदीने, नीचे उतारीने कोमल शीतल पवन नाखवा लाग्यो।

हिन्दी अनुवाद :- उसी वक्त किसी पुरुष ने वृक्ष की शाखा पर लटकते मेरे देहपाश को छेदकर, धीरे से नीचे उतारकर, कोमल शीतल पवन डालने लगा।

गाहा :-

तत्तो तुसार-सीयल-सारणि-नीर-च्छडाहिं संसित्तो ।

उल्हासिरुण हिययं अंगं संवाहियं सव्वं ॥२४३॥

संस्कृत छाया :-

ततस्तुषारशीतलसारणिनीरच्छटाभिर्संसित्तः ।

अवस्रंस्य हृदयमङ्गं संवाहितं सर्वम् ॥२४३॥

गुजराती अर्थ :- त्याटपछी ते ज पुरुषे हिम समान शीतल नीक-ना पाणीने छांटवा वडे शरीर ने सिंम्यु लाग्यो, आम हृदय ने खुल्लु करीने सर्व अंगनु मर्दन कर्यु।

हिन्दी अनुवाद :- फिर वही पुरुष हिम तुल्य शीतल नीक का पानी के छीटों द्वारा शरीर को सींचने लगा, इस तरह हृदय को खुल्ला करके उसने सम्पूर्ण अंगों की मालिश की।

गाहा :-

मुच्छा-निमीलियच्छो सव्वं सुविणं व तं विमन्नंतो ।

कोमल-किसलय-रइए सत्थरए सोविओ तेण ॥२४४॥

संस्कृत छाया :-

मूर्च्छा-निमिलिताक्षः सर्वं स्वप्नमिव तं विमन्यमानः ।

कोमलकिसलयरचिते स्रस्तरे शायितस्तेन ॥२४४॥

गुजराती अर्थ :- पछी सुकोमल पल्लवोथी बनावेल शय्यामां मने उपाडीने धीरे थी तेणे सुवडाव्यो पण नेत्र मूर्च्छाथी मींचाई गयेला तेथी आ सर्व स्वप्ननी जेम मानतो हतो

हिन्दी अनुवाद :- फिर मुझे सुकोमल पल्लवों से बनी शय्या में धीरे से सुलाया किन्तु मूर्च्छा से नेत्र बंध हो गये थे अतः सबकुछ स्वप्नवत् भासित होता था।

गाहा :-

पुणरुत्त-पवण-करणाइयाहिं नाणाविहाहिं चिट्टाहिं ।

गय-वेयणेण तत्तो खणंतरा चयणा लब्धा ॥२४५॥

संस्कृत छाया :-

पुनरुत्त-पवन-करणादिभिर्नाणाविधाभिश्चेष्टाभिः ।

गतवेदनेन ततः क्षणान्तराच्चेतना लब्धा ॥२४५॥

गुजराती अर्थ :- वारंवार ते सत्पुरुषे पूर्वेकहेला पवनादि अनेक प्रकारना उपचार कर्या तेथी गयेली वेदनावाळा मे क्षणवारमां चेतना ने प्राप्त करी।
हिन्दी अनुवाद :- बारबार उस सत्पुरुष ने पूर्व में कहे गये। पवनादि अनेक प्रकार के उपचार किये अतः वेदना का नाश होने पर उसी क्षण चेतना प्राप्त हुई।

गाहा :-

उन्मीलिय-लोयण-जुयलएण दिट्ठो विसिट्ठ-संठाणो ।
 नव-जोव्वणो जुवाणो पच्चक्खं पंचबाणोव्व ॥ २४६ ॥

संस्कृत छाया :-

उन्मीलित-लोचनयुगलेन दृष्टो विशिष्ट-संस्थानः ।
 नवयौवनो युवा प्रत्यक्षं पञ्चबाण इव ॥ २४६ ॥

गुजराती अर्थ :- पछी खूलेला लोचनवडे में विशिष्ट आकृतिवाळा, साक्षात् कामदेव जेवा, नवयौवन युक्त युवक ने मारी सामे जोयो।
हिन्दी अनुवाद :- बाद उन्मीलित नयनों से मैंने विशिष्ट आकृतिवाले, साक्षात् कामदेव तुल्य नवयौवन सम्पन्न युवक को अपने सामने देखा।

गाहा :-

भणियं च तेण किं भद्र! बाहए, दंसियं मए गलयं ।
 अह संवाहण-विहिणा तंपि हु सत्थं कयं तेण ॥ २४७ ॥

संस्कृत छाया :-

भणितं च तेन किं हे भद्र! बाधते दर्शितं मया गलकम् ।
 अथ संवाहन-विधिना तमपि खलु स्वस्थं कृतं तेन ॥ २४७ ॥

गुजराती अर्थ :- ते पुरुषे मने कह्यु हे भद्र! आपने क्यां पीडा थाय छे? ट्यारे मे गलु-बताव्यु, संवाहन विधि वडे ते कंठनी पीडा पण तेणे दूर करी।
हिन्दी अनुवाद :- उस पुरुष ने मुझसे पूछा - हे भद्र! आप को कहाँ पीड़ा हो रही है। तब मैंने गर्दन बताई, और उसने संवाहनविधि से गर्दन की पीड़ा को अच्छा कर दिया।

गाहा :-

विगय-सयल-पीडो सत्थ-देहो तथा हं
 किसलय-रइयम्मी सत्थरे संनिविट्ठो ।
 विरह-विहुरियंगो दीह-नीसास-खिन्नो
 अहिलसिय-पयत्था-ऽसाहणुव्विन्न-चित्तो ॥ २४८ ॥

संस्कृत छाया :-

विगतसकलपीडः स्वस्थदेहस्तदाऽहम्,
 किसलयरचिते सस्तरे संनिविष्टः ।

विरहविधुरिताङ्गो दीर्घनिःश्वासखिन्नो ।

अभिलषित-पदार्थासाधनोद्विग्नचित्तः ॥२४८॥

गुजराती अर्थ :- त्याचे सकलपीडा रहित, स्वस्थदेहवालो, किसलयथी बनावेली शय्यामां बेठेलो, विरहथी पीडित अङ्गवालो, दीर्घनिःश्वासोवडे खेद पामेलो, इच्छित पदार्थने नहीं साधी शकवाथी उद्विग्नचित्तवालो थयो।
हिन्दी अनुवाद :- उस समय सकलपीडा रहित, स्वस्थदेहवाला, किसलय से बनी शय्या में बैठा-हुआ, विरह से पीडित अङ्गवाला, दीर्घनिःश्वास से खेद पाता हुआ, इच्छित पदार्थ की अप्राप्ति से उद्विग्नचित्तवाला हो गया।

गाहा :-

साधु-धणेश्वर-विरइय-सुबोध-गाहा-समूह-रम्याए।

रागगि-दोस-विसहर-पसमण-जल-मंत-भूयाए ॥२४९॥

संस्कृत छाया :-

साधुधनेश्वरविरचित-सुबोधगाथा-समूह-रम्यायाः।

रागगि-द्वेष-विषधर-प्रशमन-जलमन्त्रभूतायाः ॥२४९॥

गुजराती अर्थ :- साधु धनेश्वर वडे विरचित साराबोधवाली, गाथाना समूह थी रम्य, रागरूपि आग अने द्वेष रूपि सर्पने शांत करवागा जल रूपी मन्त्र समान -

हिन्दी अनुवाद :- साधु धनेश्वर द्वारा विरचित, समीचीनबोधवाली, गाथासमूह से रम्य, राग रूपी अग्नि और द्वेष रूप सर्प को शांत करने में जल रूप मन्त्र समान-

गाहा :-

एसोवि परिसमप्यइ पासग-परिमोयाणोत्ति नामेण ।

सुरसुंदरि-नामाए कहाए तुरिओ परिच्छेओ ॥२५०॥

संस्कृत छाया :-

एषोऽपि परिसमाप्यते पाशक-परिमोचन इति नाम्ना ।

सुरसुन्दरीनाम्याः कथायाः चतुर्थः परिच्छेदः ॥२५०॥

गुजराती अर्थ :- पाशथी छोडाववा रूप सुरसुन्दरी नामनी कथानो आ चोथो परिच्छेद पण समाप्त कराय छे।

हिन्दी अनुवाद :- बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली सुरसुन्दरी नाम की कथा का चतुर्थ परिच्छेद समाप्त होता है।

॥चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः॥छ॥१०००॥

*

*Statement about the Ownership & other Particulars of the
Journal*

ŚRAMAᅇA

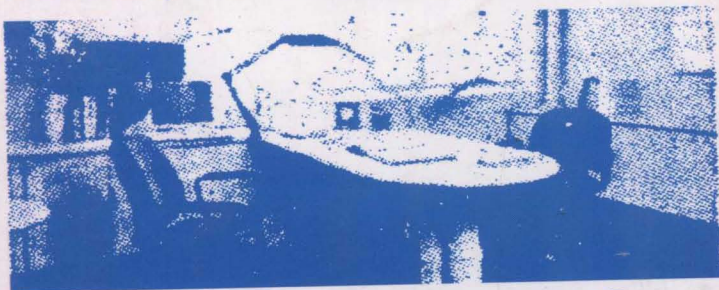
1. Place of Publication : Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi,
Varanasi-5
2. Periodicity of Publication : Quarterly.
3. Printer's Name, Nationality : Dr. Sagarmal Jain, Indian
and Address Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi,
Varanasi-5
4. Publisher's Name, : Dr. Sagarmal Jain, Indian
Nationality and Address Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi
Varanasi-5
5. Editor's Name, Nationality : Dr. Shriprakash Pandey
and Address Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi
Varanasi-5
6. Name and address of : Parshwanath Vidyapeeth
individuals who own the Former Name : Sohanlal Jain
Journal and Partners or Dharma Pracharak Samiti
share-holders holding more I.T.I. Road, Karaundi,
than one percent of the total Varanasi-5
capital.

I, Dr. Sagarmal Jain hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Dated : 1.4. 2006

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagarmal Jain

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



ONLY NUWUD[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED

Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings

DESIGN FLEXIBILITY

flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think **NUWUD MDF***



Registered Head Office :
20/6, Mahura Road,
Faridabad-121006,
HARYANA.
Tel: +91 129 230400~6,
Fax: +91 129 5061037.



© 1995



*The one wood for
all your woodwork*

Marketing Offices

Ahmedabad : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585 **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4th Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794, **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaraparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028 Tel: 0484-3969454, 3969452, **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1st floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 0141-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2nd Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2nd floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Sun Garden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.